



समस्याएँ भारत की



शरद जोशी

शेतकरी प्रकाशन. ११७११

शेतकरी प्रकाशन ॥१७॥



समस्याएँ भारत की
(लेख संग्रह)

शरद जोशी

शेतकरी प्रकाशन, अलिबाग (रायगड)

शेतकरी प्रकाशन ११७११

३ सितंबर १९८८

प्रकाशिका :

सौ. सुमित्रा अरविंद कुलकर्णी

शेतकरी प्रकाशन, अलिबाग (रायगड)

द्वारा शेतकरी संघटना मध्यवर्ती कार्यालय,

ग्रा. पो. आंबेठाण (४१० ५०१) ता. खेड जि. पुणे

फोटोटाईप सेटर्स :

सुपर्ब ग्राफीक्स

११७७ शुक्रवार पेठ,

सुभाषनगर, लेन नं. २

पुणे ४११ ००२

मुद्रण :

र गो जोशी,

के. जोशी आणि कं. ब्लॉकमेकर्स

अॅन्ड ऑफसेट प्रिंटर्स,

पुणे ३०.

मूल्य : रुपये बीस केवल

मूल्य-रुपये पन्नास केवल

अनुक्रमणिका

१. गोरे अंग्रेज गए काले अंग्रेज आए	१
२. प्रचलित अर्थव्यवस्था पर नया प्रकाश	८
३. क्या भारत सचमुच आजाद है?	१४
४. भारत में खेती	२०
५. देश की वर्तमान राजनैतिक स्थिती और भावी संभावनाएँ	२६
६. शेतकरी संघटना के विरोधी	२८
७. कृषि मूल्य आयोग भंग करो — किसानों की मांग	३५
८. शेतकरी संघटना का नैतिक दर्शन	४१
९. कृषि मूल्य आयोग — वैज्ञानिकता और कलाकारिता	४९
१०. जो बिकेगा वही पैदा करो	५५
११. पंजाब — काल्पनिक और वास्तविक	६०
१२. प्रधानमंत्री के चुनावी हथकंडे	६६
१३. खेती संबंधी सभी कर्ज अनैतिक	७०
१४. २१ वीं सदी में किसान	७४
१५. राजीव की अर्थनीति	७९
१६. जीवन—ज्योति फिरसे जलाइये	८९
१७. काँग्रेस के १०० वर्ष — अभिजात शासन जारी है	९३
१८. खोखले हैं आर्थिक प्रगती के सरकारी दावे	९७
१९. सजा किसान को ही क्यों?	१०२
२०. किसान हर जगह नदारद था	१०५
२१. भ्रष्टाचार का मामला बातइये घूस की रकम वापस पाइये	१०९

२२. स्त्रीशोषण का मूल आधार	११२
२३. विकल्प का रास्ता	११६
२४. कौन होती है सरकार कर्ज माफ करनेवाली	१२०
२५. इंडिया बनाम भारत और नया आंदोलन	१२५
२६. भारत के दूसरे गणतंत्र की रूपरेखा	१३८

ऋणनिर्देश

१. मजदूर किसान नीति
२. रविवार
३. नयी दुनियाँ
४. देशबंधु
५. असली भारत
६. छात्र किसान नीति

शेतकरी प्रकाशन के दो शब्द

‘शेतकरी संघटना’ के जनक श्री शरद जोशी जी ने महाराष्ट्र के किसान आंदोलनों के द्वारा भारत की समस्याओं का असली स्वरूप में दर्शन दिया है। हाल में अपने विचार उन्होंने प्रायः मराठी और अंग्रेजी में लेखन कर के देश के सामने रखे। ‘शेतकरी प्रकाशन’ का यह सौभाग्य रहा कि श्री जोशी जी के विचारों को वह अपने सोलह प्रकाशनों के माध्यम से महाराष्ट्र के सर्वसाधारण किसान और किसान कार्यकर्ताओं तक पहुंचा सका। शेतकरी प्रकाशन के प्रथम प्रकाशन ‘शेतकरी संघटना : विचार आणि कार्यपद्धति’ का हिंदी, तेलगू, कन्नड और गुजराती भाषाओं में रूपांतर हो चुका है, जिससे श्री जोशी जी के विचार अन्य प्रान्तों में भी पहुंचे हैं। इसके अलावा मजदूर किसान नीति, नयी दुनियाँ, असली भारत, रविवार, देशबंधु, छात्र किसान नीति जैसे हिन्दी माध्यमों ने श्री जोशी जी के कई मराठी और अंग्रेजी लेखों के भाषांतर प्रकाशित किये।

‘समस्याएँ भारत की’ इस पुस्तक के रूप में श्री शरद जोशी जी लिखित कुछ लेखों के हिन्दी अनुवाद पाठकों, खास करके किसानों और किसान कार्यकर्ताओं के हाथ सोंप देते समय शेतकरी प्रकाशन को विशेष हर्ष होता है। आशा है, श्री जोशी जी के विचारों का परिचय देने में यह पुस्तक उपयुक्त साबित होगी।

इस पुस्तक में संग्रहित लेख १९८० से लेकर १९८८ तक के काल में सामायिक प्रयोजन से लिखे गये हैं। उस समय वे सब अपने अपने प्रयोजन में स्वतंत्र थे। फिर भी हर प्रयोजन में कई बातें अपरिहार्य रूप से दोहरायीं गयीं हैं। जैसे, किसान आंदोलन के माध्यम से श्री जोशी जी ने प्रस्थापित किये तत्त्व — ‘देश की स्थिती सुधरने का, गरीबी हटाने का एकमात्र मार्ग — कृषि उपज के वाजिब दाम’, ‘खेती के लूट के शासन के तरीके’ आदि। इस कारण से इस पुस्तक में कई जगह पुनरुक्ति संभव है। लेखों के मूल स्वरूप को बाधा न पहुँचे इसलिए संपादकीय संस्करण नहीं किये हैं।

दूसरी बात, इस संग्रह में समाविष्ट लेखों में जिन आँकड़ों, जैसे कि कृषि उपज के भाव, उत्पादन, खाद-दवाएँ आदि के भाव, के संदर्भ आये हैं वे उन समय के हैं जिस समय लेख लिखे गये।

मजदूर किसान नीति, नयी दुनियाँ, असली भारत, रविवार, देशबंधु, छात्र किसान नीति तथा अंतीम लेख 'भारत के दूसरे गणतंत्र की रूपरेखा' जिसका हिंदी अनुवाद और कहीं छपा नहीं है, की अनुवादिका मधु किश्वर जी इन सब का ऋणनिर्देश करना जरूरी है। इनमें से मजदूर किसान नीति (अब छात्र किसान नीति) का योगदान किसान आंदोलन के प्रति विशेष उल्लेखनीय रहा है। छात्र किसान नीति के संपाद संयोजक का निवेदन साथ में दिया है।

आशा है, हिन्दी भाषी पाठकों द्वारा इस पुस्तक का स्वागत और स्वीकार होगा और उन्हें श्री जोशी जी के विचारधारा से परिचित कराने में यह पुस्तक कामयाब रहेगी।

सधन्यवाद।

३ सितंबर १९८८

सुरेशचंद्र म्हात्रे
शेतकरी प्रकाशन के लिये.

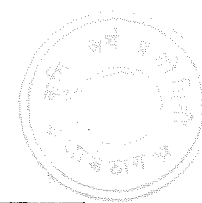
छात्र किसान नीति का निवेदन

श्री शरद जोशी के कई लेख मूल मराठी और अंग्रेजी से अनुवादित होकर 'मजदूर किसान नीति' (अब 'छात्र किसान नीति') में एक के बाद एक छपे हैं। 'छात्र किसान नीति' आज किसान आंदोलन के प्रचार-प्रसार की हिन्दी भाषा में सर्वप्रमुख पत्रिका है। इस पत्रिका का जन्म १९७७ में हुआ, वह तामिलनाडू में प्रभावी किसान-आंदोलन का दौर था। श्री शरद जोशी से हमारा परिचय १९८१ में खन्ना (पंजाब) के भारतीय किसान यूनियन के महाधिवेशन में हुआ, जहाँ वे मुख्य अतिथि थे। तब से किसान आन्दोलन को मजबूत वैचारिक धरातल पर हमने खड़ा पाया है। इसलिए इन विचारों का प्रसार करने और इस आन्दोलन को बेशर्त सक्रिय समर्थन देने का कार्य हम करते रहे हैं। पत्रिका के संपादक मंडल के सदस्य विभिन्न प्रान्तों — तामिलनाडू, कर्नाटक, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश बिहार और उत्तर प्रदेश के किसान संगठनों की गतिविधियों से सीधे जुड़े रहे हैं। पत्रिका ने किसान आन्दोलन के प्रसार की दृष्टि से गिनाने योग्य जो दो महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं, वे हैं विभिन्न प्रान्तों के किसान संगठनों में समन्वय का और भारतवादी अवधारणाओं के प्रचार का। अभी 'छात्र किसान नीति' संपादक मंडल के श्री रामनाथन् कृष्ण गाँधी किसान संगठनों की आन्तरराज्य समन्वय समिति के संयोजक हैं। संपादक मंडल के प्रयास से भारत-इण्डिया अवधारणा के प्रसार की दृष्टि से देशभर में 'किसान मित्र सम्मेलन' आयोजित किये गये।

'समस्याएँ भारत की' में समाविष्ट इन लेखों में हमने ऐसे अर्थशास्त्रीय और दार्शनिक विचार पाये हैं, जो भारत के पुनर्निर्माण को नवीन दिशा देने वाले हैं। भारत के नये स्वतंत्रता संग्राम अथवा किसान आन्दोलन के लिए आने वाले निर्णायक वर्षों में इनका महत्त्व सिद्ध होने वाला है। अतः 'छात्र किसान नीति' को भी हमने और भी व्यापक, सक्रिय और समर्पित बनाने का लक्ष्य रखा है।

३ सितंबर १९८८

डा. सुरेन्द्र सुमन
संयोजक, संपादक मंडल
छात्र किसान नीति,
२९/२३, आजादनगर
कानपुर — २०८ ००२.



१.

गोरे अंग्रेज गए काले अंग्रेज आए

किसानों के प्रश्न पर जब हम विचार करते तब पहले खेती के माल के भाव के विषय में विचार करना चाहिए। कृषि क्षेत्र में यान्त्रिक विकास से कृषि उत्पादन बढ़ा है। लेकिन किसानों की परिस्थिति सुधरने की जगह उलटी बिगड़ी है। यह एक चिंताजनक बात है। आज देश के सारे लोग अपनी संपत्ति बढ़ाने की ही एक माँग करते हैं। हजारों रुपया तनखाह पानेवाले बड़े अफसर भी काम पर ध्यान नहीं देते, दिनभर चाय-पानी, गप्पे हाँकना आदि के साथ तनखाह बढ़ाने की माँग करते हैं।

मेरी दृष्टि में किसानों की ज्यादा भाव की माँग इस प्रकार की नहीं है। इस माँग का एक नैतिक और ऐतिहासिक आधार है। मैं मूल रूप से किसान नहीं हूँ, फिर भी किसानों को अपनी उपज का उचित मूल्य दिलाने हेतु यथा शक्ति संघर्षरत हूँ। इसका कारण, देश की गरीबी के विरुद्ध की प्राथमिक आवश्यकता यही है, ऐसी मेरी धारणा है।

देश की गरीबी मूल रूप से सूखी खेती करने वाले किसानों की गरीबी है। शहरों व सिंचित क्षेत्रों में जो गरीबी व कंगाली है, वह सुखी खेती करने वाले किसानों की गरीबी का ही परिणाम है। जो किसान खेती से पेट नहीं भर पाते उन्हीं में से कुछ झुग्गी झोपड़ी, गन्दी बस्ती, धर्मादाय दवाखाने, जेल व सेना आदि में जाते हैं। यदि गरीबी सचमुच मिटानी है, तो सब से पहले कृषि को बढ़ावा देना होगा। किसानों की गरीबी का कारण साफ है। उनके लिए कोई आकड़ों की जरूरत नहीं है। बरसात की अनिश्चितता के कारण फसलों को इतना नुकसान होता है कि गत ७ वर्षों में यह नुकसान फसल के करीब ४७ प्रतिशत तक हो गया है। इतना नुकसान किसी भी बीमा योजना द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता। इस

नुकसान को प्रचलित उत्पादन पद्धति का ही एक अपरिहार्य भाग समझकर, उत्पादन खर्च में ही इस घाटे को जोड़ा जाना चाहिये।

बरसात का दुसरा गुणधर्म है सारी फसल का एक ही समय में आ जाना, जिसके कारण देश में खेती का सारा माल एक साथ बाजार में आ जाता है और माल के भाव व कार्याय कम हो जाते हैं। पानी की अनिश्चितता फसलों का एक साथ आ जाना, बढ़ता हुआ उत्पादन खर्च व कम होती कीमतों के कारण कृषि व्यवसाय घाटे का धन्धा बना रहता है।

दूसरे, किसानों पर ही प्राकृतिक संकट होता है। अनेक देशों में प्राकृतिक परिस्थितियाँ प्रतिकूल हैं। परन्तु इस विपरित परिस्थितियों का बोझ सब नागरिकों को उठाना पड़ता है, सिर्फ किसानों को नहीं। यह सिद्धांत जब तक अपनाया नहीं जाएगा, तब तक किसानों की हालत सुधर नहीं सकती। भारत में इस आसमानी संकट का सामना सिर्फ कमजोर किसानों को ही करना पड़ता है। शासन की तरफ से मदद तो दूर, उल्टे इस आसमानी संकट के साथ साथ सुल्तानी संकट का भी सामना करना पड़ता है।

प्राकृतिक प्रकोप का सामना करने हेतु अनेक योजनायें बनाई जा सकती हैं। — छोटे तालाब, छोटे बांध, बन संवर्धन इस प्रकार के अनेक उपाय कर कुछ अवधि में प्रकृति पर एक हद तक काबू पाया जा सकता है। सूखे के समय में नाले को बांध उसके पानी से खेती कर अकाल का सामना कर सकते हैं। बाजार में फसलों के भाव नहीं गिरें इस हेतु किसानों का माल रखने की और पूँजी उधार देने की व्यवस्था की जा सकती है। परम्परागत फसलों से हटकर नयी फसलें ली जा सकती हैं। नष्ट होने वाले माल को संस्कारित कर संरक्षण हो सकता है। और इन सब के आधार पर कृषि-उपज के उचित मूल्य का आश्वासन हम दे सकेंगे।

शासन ने ऐसी कई योजनायें शुरू की हैं लेकिन शासन का लक्ष्य शहर, व्यापारी एवं कारखानेदार के विकास पर केन्द्रित है। इससे किसानों की हालत हर वर्ष बदतर होती जा रही है। मशीनीकरण व कर्ममाफी जैसी योजनाओं से किसानों का भला नहीं हो सकता। यह तभी संभव है जब खेती का धन्धा फायदे का हो और इसके लिए स्थिर बाजार व उचित दाम की गारण्टी जरूरी है।

यह विचार अब सारे देश में फैल रहा है। विभिन्न पार्टियों और कई वर्ष सत्ता में रह चुके लोग भी आजकल किसानों को उचित मूल्य मिले ऐसी घोषणायें कर रहे हैं, परन्तु फिर भी ऐसा क्यों नहीं हुआ? हमारे

ऐसी घोषणायें कर रहे हैं, परन्तु फिर भी ऐसा क्यों नहीं हुआ? हमारे स्वतंत्र देश की सरकार ने किसानों की ऐसी उपेक्षा क्यों की? इसका उत्तर अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है। इसके बाद ही इस समस्या का अचूक उपाय निकाला जा सकेगा। शासन का यह सौतेला व्यवहार, गलती से, आकार्यक्षमता या लापरवाही से हुआ है, ऐसा मैं नहीं मानता। एक मां भले ही कहें कि मैं मेरे पुत्र व सौतेले पुत्र पर एकसा ही प्रेम रखती हूँ, परन्तु जब कोई काम करवाना हो तो सौतेले पुत्र की याद आती है और खाना हो तो स्वयं का पुत्र याद आता है। एक दो बार ऐसा हुआ होता तो भी इस पर विश्वास किया जा सकता है, परन्तु गत ३३ वर्षों से ऐसा ही चल रहा है। उस पर विश्वास करना कठिन है। इसका उत्तर मेरी दृष्टि में स्पष्ट है। भारतीय किसानों के शोषण पर आधारित अंग्रेजों के राज्य का १९४७ में सिर्फ मुखौटा बदला है व किसानों के शोषण की शासन की अधिकृत नीति वही रही है। भारत से अंग्रेजों का राज्य गया व इण्डिया का राज्य चालू हो गया।

कच्चा माल सस्ते से सस्ते लेना व कारखाने का पक्का माल मेहेंगे से मेहेंगा बेचना, यही अंग्रेजी राज्य की प्रमुख नीति थी। इस बात को ध्यान में रखकर गांधीजी ने चरखे को अंग्रेजों की सत्ता के विरुद्ध लड़ाई हेतु प्रतीक बनाया था। कच्चे माल के उत्पादन करने वालों के शोषण को रोकना स्वतन्त्रता की लड़ाई का आर्थिक उद्देश्य था। स्वतन्त्रता के बाद सत्ता ऐसे लोगों के हाथ में गयी जिन्होंने जनता की भलाई का नहीं सोचा और जो संपत्ति विदेश जा रही थी उसे देश के कुछ ही मुठ्ठी भर लोगों की जेब में भर दिया। जानबूझकर किसानों की समस्या को भूल गये। मेरी यह विवेचना कई लोगों को अंतरंजित लग सकती है, परन्तु मैं कोई सत्ता के लिये आवेश व गैर जिम्मेदारी से बोलने वाला राजनेता नहीं हूँ। अर्थशास्त्र का एक विद्यार्थी होने के नाते पूर्ण जिम्मेदारी और जानकारी रखकर बोल रहा हूँ। संदेह करने वालों को नीचे लिखी बातोंपर शान्तिपूर्वक विचार करना चाहिए।

१९७६ के पहले कालखण्ड को कृषि के उपज के गिरते भाव का समय कह सकते हैं। नागरिकों को सस्ते भाव से धान मिले इस हेतु धान की वसुली शासन ने सस्ते भाव में की या नहीं? एक उदाहरण देता हूँ, बाजरा खुले बाजार में रु. १.५० प्रति किलो जब बिक रहा था, तब किसानों से सरकार ने ८७ पैसे प्रति किलो खरीदा। जिन किसानों के पास बाजरा नहीं था, उनका अन्य माल बेचकर प्रति किलो के ६७ पैसे वसूल

किये। इस तरीके से किसानों को लागत का खर्चा भी पूरा नहीं मिला। फसल की कमी के समय भाव अच्छा मिलने की जगह घटा हुआ। परन्तु किसान फिर भी इतने भोले हैं कि स्वेच्छा और हँसी खुशी से उन्होंने लेवी दे दी। इसका मतलब यही हुआ कि शासन की नीति खेती व माल का भाव, मांग व पूर्ति के सिद्धांत पर निश्चित करने की नहीं रही। दुर्भिक्ष के समय किसानों को संरक्षण देना चाहिये यह बात स्पष्ट है।

सन् १९७७ के बाद का समय खेती के माल की अधिक पैदावार की शुरूवात का समय रहा। शासन ने अपनी नीति को सम्पूर्ण रूप से बदल दिया और अब माँग व पूर्ति की नीति शुरू कर दी। नासिक जिले के लासलगांव की बाजार समिती के प्रतिनिधियों को केन्द्रीय अन्न मन्त्री ने स्पष्ट कहा था कि कांदा (प्याज) खरीदी हेतु किसी भी परिस्थिति में अनुदान दिया जाने वाला नहीं है। प्याज की समस्या शासन की गलत निर्यात नीति के कारण पैदा हुई। शहरी ग्राहकों के नाम पर निर्यात बन्दी लागू की व विदेश की दो लाख टन प्याज की माँग को गँवा दिया। उसके कारण बचे रहे प्याज की व्यवस्था करने की शासन ने कोई तैयारी नहीं की और नासिक, पुणे जिलों में लाखों टन प्याज सड़ गया। जिसके कारण किसानों को रोने अलावा कुछ नहीं बचा।

अंग्रेजों के समय भारत से होने वाले निर्यात पर पूरा नियन्त्रण होता था। यदि इंग्लैंड को माल की जरूरत नहीं होती थी तो ही माल दूसरे देशों को भेजा जा सकता था और अधिकतर दूसरे देशों को निर्यात भी इंग्लैंड के मार्फत होता था। अब भारतीय माल का निर्यात इण्डिया की नीति के आधार पर हो रहा है। प्याज, मूँगफली, धान व दाल आदि का निर्यात नहीं हो सकता, क्योंकि देश में इनकी जरूरत है ऐसा कहा जाता है। परन्तु इसका यह मतलब तो नहीं की उनका उत्पादन खर्च भी नहीं दिया जाए? यदि किसी कारखानदार ने विदेश से आयातित मशीनों व विदेश ज्ञान के आधार पर कोई एक या दो वस्तुएँ तय्यार कर ली तो उसे बढ़ावा, पदक, प्रमाणपत्र व सम्मान दिया जाता है। यदि घाटा भी होता है तो अनुदान की व्यवस्था की जाती है। लेकिन किसान खुद के बल पर अपने माल को निर्यात करने की कोशिश कर उचित मूल्य ले सकता है तो उसमें शासन की नीति रुकावट डालती है।

मां भोजन देती नहीं व बाप भीख मांगने नहीं देता। ऐसी स्थिति हो गई है। इसे सोच समझकर किया जा रहा शोषण नहीं कहें तो फिर क्या कहें?

आपके सामने एक लिखित सबूत पेश है। सन् १९४६ में अंग्रेजों ने श्री. व्ही. टी. कृष्णाम्माचारी की अध्यक्षता में खेती उत्पादन की कीमत निर्धारण हेतु व समस्या हेतु एक उपसमिति का गठन किया था, जिसकी सिफारिश के अंश यहाँ प्रस्तुत हैं।

“भारत में प्राकृतिक परिस्थिति के कारण यदि किसानों की मदद नहीं की जाती है तो उन्हें अधिकतर घाटा होगा। किसानों की मदद का सीधा व सच्चा रास्ता उनके उत्पादन को उचित दाम की गारण्टी है। इसके लिये कृषि मूल्य आयोग जैसी एक स्वायत्त संस्था का निर्माण करना चाहिये, जिसके द्वारा शास्त्रीय पद्धति से कीमतों को अमल में लाने के लिए दूसरी ऐसी दो शाखायें होनी चाहियें। उसमें से दूसरी शाखा में जरूरत पड़ने पर खरीदी व गोदाम की व्यवस्था का प्रावधान हो।” समिति की सिफारिश बहुत खुलासेवार और सिलसिलेवार है। मुझे ऐसा लगता है कि अब भी इन सिफारिशों को अमल में लाया जायें तो किसानों का और गरीबी का प्रश्न हल हो सकता है।

स्वतन्त्रता मिली परन्तु स्वतन्त्रता का उद्देश्य नजरअन्दाज हो गया। सन् १९७१ की योजना आयोग द्वारा कृषि उत्पादन की कीमत हेतु गठित समिति ने जो कहा है उस पर आपको विश्वास नहीं होगा।

किसानों का पूर्ण उत्पादन शुल्क निकल आए ऐसी कीमत देना अव्यावहारिक और असम्भव है, क्योंकि फिर किसानों के परिवार के सदस्यों द्वारा किये गये काम की मजदूरी का हिसाब करने पर माल की कीमतें बेहिसाब बढ़ जायेंगी। इसके परिणाम स्वरूप कारखानों में लगने वाला कच्चा माल और महंगा होगा व कर्मचारियों की तनखाहे भी और बढ़ती होगी।” इस प्रकार सर्वसाधारण की आर्थिक स्थिरता के नामपर किसानों को उनका पूरा उत्पादखर्च भी नहीं निकल पाये ऐसी कीमत देना सरकारी नीति का अंग है। सन् १९७१ के बाद की पंचवर्षीय योजना के कागजाद देखिए। सन् १९७६ के राष्ट्रीय कृषि आयोग के निर्णय देखिये। उत्पादनखर्च निकल आये सिर्फ इतनी सी कीमत देने के लिये भी सब लोग इतना शोर मचाते हैं व देश की अर्थव्यवस्था चौपट होने का प्रचार किया जाता है कि सामान्य नागरिक को लगता है कि यदि किसान को नुकसान नहीं होगा तो देश डूब जायेगा।

इस प्रकार किसानों के साथ हो रहा अन्याय किसी गलती से, भूल से, या अकार्यक्षमता से हो रहा है, ऐसी बात नहीं है। बल्कि शासन की नीति ही किसानों के प्रति द्वेषपूर्ण है। शासनकर्ताओं की नजरें पश्चिमी

राष्ट्रों के औद्योगिक नगरों की संस्कृति की तरफ लगीं हैं। पूरा देश अमरिका की तरह तो करना नहीं पड़ता है। उसके बदले पांच दस संपत्तिशाली महल तैयार कर दिये, जिन्होंने अपने दरवाजे खिड़कियाँ बंद कर भूखें, कंगाल किसानों की दर्द भरी चीख नहीं सुनना तय कर लिया है। किसानों की मदद के नाम पर कुछ ऐसे किसानों की मदद करते हैं, जो चुनाव के समय थोकबन्द वोट इन्हे लाकर देते हैं। यदि कभी कोई कठिन समस्या आ जाती है तो कर्जमाफी जैसे झासे कर के किसानों को गुमराह करते हैं। किसानों को उनके हक देते नहीं, परन्तु धर्मशाला, दवाखाने इत्यादि कार्यक्रम को बढ़ावा देते हैं और इनसे भी नौकरशाही व बड़े घराने का ही कल्याण जादा होता है। सभी सरकारों ने ऐसा किया है।

किसानों के असंतोष को चुनाव का नाटक करके ठण्डा किया जाता है। पार्टियों का मतलब चुनाव हेतु संघर्ष, और सरकार का मतलब एक चुनाव जीतने के बाद दूसरा चुनाव जीतने की तैयारी करना है। इस चुनाव पद्धति से किसानों की परिस्थिति में सुधार नहीं हो सकता। सब पार्टियाँ (अतिवामपन्थी गुट भी इनमें शामिल हैं) इण्डियन हैं, भारतीय पार्टी एक भी नहीं है।

किसानों का यह शोषण प्रचलित व्यवस्था में इस अवस्था में पहुँच चुका है कि आवेदन, निवेदन, प्रतिनिधि मंडलों द्वारा या लोकसभा और विधानसभाओं में शासन पर दबाव डालकर दूर नहीं किया जा सकता। देश की सत्ता गोरे अंग्रेजों के हाथों से निकलकर काले अंग्रेजों के हाथ में चली गयी है। फिर से एक नया स्वतंत्रता युद्ध लड़ने की तैयारी करनी पड़ेगी और यह लड़ाई पहले से तेज, कष्टप्रद और लम्बी होगी। किस अर्थ में यह लड़ाई पहले से कठिन है? इसका कारण विरोधी दलों का बंटा होना नहीं है। यह सरकार अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति के अनुसार किसानों में छोटा, बड़ा, खेतिहर, मजदूर व आदिवासी ऐसा भेद डालकर फूट डालने का प्रयत्न कर रही है, क्योंकि वह किसानों में एकता नहीं आने देना चाहती। सरकार शहर व ग्रामीण क्षेत्रों के शोषित वर्ग में यह कहकर फूट डालती है कि कृषि उपज के भाव बढ़ाने से गरीब व मध्यमवर्गीय ग्राहकों का पैसा बड़े किसानों के पास चला जाएगा।

इस अलग अलग वर्गों में कुछ पैमाने पर अंतरविरोध है जरूर, परन्तु मुख्य अंतरविरोध इण्डिया व भारत के बीच है। यह दूर होना चाहिये। कृषि उपज के उचित दाम निर्धारित करने से कई अच्छे परिणाम होंगे जैसा पैदावार पर, उत्पादन पर, रोजगार की उपलब्धि पर। ग्रामीण

नौकरशाही का वर्चस्व बढ़ाते हुए नहीं होगा। गरीबी समस्या आते ही "हमारे पास जादू की डण्डी नहीं है" ऐसा कहने वालों से मैं कहता हूँ कि यह रही जादू की डण्डी।

तीन सालमें पूरी शक्ति से ग्रामीण क्षेत्रों में गोदामों व कारखानों का जाल बिछाया जाए। कृषि उपज के निश्चित भाव घोषित किये जायें तो पांच वर्षों में इस देश में गरीबी नहीं रहेगी। पर यह सब कहने से क्या फायदा? क्या सरकार को यह मालूम नहीं है? सोने का ढोंग करनेवालों को कोई ऐसे जगा सकता है?

देश की स्थिति के उस बुनियादी मसले पर विवेचन हेतु एक नये मार्क्स को तैयार होना पड़ेगा। किसानों का नेतृत्व करने हेतु फिर से एक नये महात्मा गांधी को हमारे बीच आना पड़ेगा। नये स्वराज्य की स्थापना हेतु शिवाजी महाराज को फिर से जन्म लेना होगा। उस समय तक हम लोगों का काम है कि उस युग पुरुष के लिये ऐसी जमीन तैयार करें, जिससे उसकी लड़ाई कुछ कम कठिन हो।

पूर्व प्रकाशन : दै. नयी दुनिया, इंदौर

प्रचलित अर्थव्यवस्था पर नया प्रकाश

तेकरी संघटना का विचार और उसका एक सूत्री कार्यक्रम एक संपूर्ण विचार प्रणाली है। यह किसी एक वर्ग के स्वार्थ का दर्शन नहीं है।

वस्तुओं और सेवाओं के लेन देन से ही कोई भी समाज एक इकाई में बंधता है। इस लेन देन की शर्तें और किसी चीज से ज्यादा मौजूदा सामाजिक सम्बंधों से निश्चित होती हैं।

प्रकृति और मनुष्य के साथ आने पर आर्थिक स्वरूप का जो पहला व्यवसाय अस्तित्व में आया वह था खेती। खेती ही वह एकमेव व्यवसाय है जिसमें उपभोग्य वस्तुओं का गुणाकार होता है। यातायात, व्यापार, संचय, कारखानेदारी इन क्षेत्रों में लेन देन के मूल्य (एक्स्चेंज मूल्य) की वृद्धि हो सकती है लेकिन उपभोग्य वस्तुओं का गुणाकार सिर्फ खेती में ही होता है।

विभिन्न वर्ग और सामाजिक तबके इसी गुणाकार का लाभ लेकर उसके अधिकाधिक हिस्से पर कब्जा जमाने के लिए संघर्षरत रहते हैं। जो वर्ग अतिरिक्त उत्पादन पर कब्जा कर लेता है वह पूंजी संचय कर सकता है, उत्पादन के साधन निर्माण कर सकता है और उनपर कब्जा कर कृषि के साथ ही श्रमशक्ति का भी शोषण कर अपने लाभ का अनुपात बढ़ा सकता है।

समाज का इतिहास खेती के इस गुणाकार के बंटवारे का इतिहास है। उत्पादन के साधनों पर किसका कब्जा है यह इस बंटवारे का एक सूचक है। अगर औद्योगीकरण और श्रमशक्ति का शोषण इन सीमित क्षेत्रों का अध्ययन किया जाए तो यह सूचक मददगार हो सकता है। परन्तु इस सीमित क्षेत्र के बाहर जाकर विचार करना हो तो सूचक गलत दिशा में ले जा सकता है। औद्योगिक क्रान्ति होने से पहले खेती से जो उत्पादन लूटा

गया, उसका उपयोग उत्पादन के साधन निर्माण करने में नहीं हुआ।

उद्योगों के प्रसार के कारण होने वाले मजदूरों के शोषण के बारे में उन देशों के अर्थशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों ने विचार किया जहाँ औद्योगिक विकास हुआ। कृषि के शोषण के बारे में विचार बहुत कम किया गया। कृषि के अतिरिक्त उत्पादन से प्राथमिक पूंजीसंचय होता है और उसके बाद मजदूरों के शोषण से पूंजी में वृद्धि होती है यह विचित्र विचार सामने आया। इतना ही नहीं, इस विचार को बल मिला कि कृषि क्षेत्र की बचत को जितनी जरूरी हो उतनी ही निर्दयता से, उद्योगों के लिए आवश्यक पूंजी के लिये उपलब्ध किया जाना चाहिये।

पूँजीवादी व्यवस्था के पर्याय के रूप में जो समाजव्यवस्थाएँ सामने आयीं उन सब में कृषि का शोषण निहित था और पूँजी संचय के लिए कृषि क्षेत्र की बचत उपलब्ध हो सके इसके लिए बड़े पैमाने पर बेरहम उपाय किए गए।

दूसरे महायुद्ध के बाद स्वतंत्र हुए देशों में भी वहाँ की शासन व्यवस्था ने खेती का शोषण जारी रखा। देश के अंदर उपनिवेशवाद शुरू हुआ।

कृषि के पक्ष में भी तर्क सामने आए, लेकिन उनकी नींव अर्थशास्त्र पर नहीं रखी गयी थी। प्रकृति के सामीप्य, यंत्रीकरण का विरोध, अध्यात्मिक उन्नति पर जोर इस तरह के नैतिक आधारों पर विरोध हुआ। जीवन के लिए बेहतर परिस्थितियों की मनुष्य की स्वाभाविक चाह का विरोध इस तरह के विचारों में था। हालाँकि इस तरह के विचारों के प्रवर्तकों को संत महात्मा इत्यादि कहा गया, वास्तव में उनके विचारों का प्रत्यक्ष परिणाम कहीं देखने नहीं मिला।

खेती पिछड़ा हुआ तथा अनाड़ी लोगों का व्यवसाय है और मनुष्य जाति को इससे जल्द से जल्द छुटकारा पाना चाहिए, इसके लिए कृषि का निर्मम शोषण भी अगर करना पड़े तो वह एक कटु कर्तव्य है — इस प्रकार के विचारों को महत्त्व मिला। विकास के लिए उद्योगों की बढ़ोतरी पर जोर दिया जाना चाहिए और इसके लिये हेतुपूर्वक पैदा किया गया असंतुलन भी आवश्यक और समाज के हित में है, यह मत भी सामने आया।

योजनाओं के माध्यम से किये जानेवाले विकास अर्थशास्त्रियों के विचारों से निर्धारित नहीं हुए। साम्राज्यवादी देशों ने अपनी बढ़ोतरी के लिए जो तौर तरीके अपनाए वही दोहराकर तेजी से अमीर बनने की अपेक्षा रखने वाला वर्ग साम्राज्यवादी सत्ता की मौजूदगी में ही हर उपनिवेश

में अस्तित्व में आ चुका था। जो उपनिवेश स्वतन्त्र हुए वहाँ इसी वर्ग ने सत्ता हथिया ली। सत्ता हाथ में आने पर जो मनमानी इस वर्ग को करनी थी, उसने की। इस मनमानी का सैद्धांतिक समर्थन करने वाले अर्थशास्त्री पैसे के सौ मिल ही जाते हैं। सारी तीसरी दुनियाँ में दोहरी समाज व्यवस्था बृढ़ हुई। एक ओर औपनिवेशिक शोषण की परम्परा चलाने वाली परभृत उद्योग धन्यों की व्यवस्था और दूसरी ओर पुनश्च औपनिवेशिक शोषण की शिकार बनी कृषि पर आधारित ग्रामीण व्यवस्था। इन्हीं दो व्यवस्थाओं को मैंने “इण्डिया” और “भारत” ये नाम दिये।

कृषि की बचत से ही उद्योगों के लिये पूँजी संचय किया जा सकता है इसका अर्थ यह लगाया गया कि किसान को चूस कर ही औद्योगिक विकास हो सकता है। वास्तव में कृषि की बचत किसान के पास छोड़कर सुलभ और सन्तुलित औद्योगीकरण सम्भव था। जपान की प्रगति इसका जीवंत उदाहरण है।

आर्थिक विकास के मार्ग में रोड़े हुआ ही नहीं करने। सभी उत्पादक इकाइयों की अधिकतम क्षमता आप ही उपयोग में आ जाती है यह प्रथम पंक्ति के अंग्रेज अर्थशास्त्रियों का सीधा और सरल विचार था। विभिन्न शास्त्रों की सीढ़ी में जीवशास्त्र अर्थशास्त्र के एकदम करीब है। आर्थिक विकास उतना ही नैसर्गिक और आनन्ददायी है जितना कि जीवों का विकास। विकास थमता इसी कारण से है कि उसके साथ खिलवाड़ किया जाता है। देश की गरीबी दूर हो इसके लिए कुछ भी करने की जरूरत नहीं है सिर्फ गरीबी टिके और बड़े इसके लिए सतत किए जा रहे प्रयासों को रोकना होगा। ऐसा करने से गरीबी अपने आप ही दूर हो जायेगी।

खूले आम लूट, जबरदस्ती से वसूली, बेगार, सस्ती मजदूरी, कम दाम ये सब कृषि में होने वाले उपभोग्य वस्तुओं के गुणाकार पर कब्जा करने के विभिन्न तरीके हैं। किसी भी विशिष्ट देश में किसी भी विशिष्ट काल में ये सब तरीके अपनाये जाते रहे हैं। सिर्फ उन्हें अलग अलग पैमानों पर उपयोग में लाया जाता है। सर्वाधिक पिछड़ी अवस्था में लूट और जबरदस्ती की वसूली अधिक होती है। उससे प्रगत समाज में बेगार और सस्ती मजदूरी पर ज्यादा जोर होता है। अगले चरण पर वह स्थिति आती है जिसमें कम दाम देकर खेती के शोषण पर सर्वाधिक जोर दिया जाता है। किसी भी नागरी व्यवस्था की प्रगति का यही मापदण्ड है।

एक ही काल में खेती का शोषण विभिन्न स्तरों पर होता हुआ भी

दिखाई देगा। जो अपने माल की कम कीमत पाता है, मजदूरी कम देता है, बेगार करवाता है। लेकिन इस सारे शोषण का अंतिम लाभ औद्योगिक पूँजी संचय के लिए ही होता है। कृषि क्षेत्र के अन्तर्गत शोषण के कारण कई लोग दिमागी उलझन में फँस जाते हैं और दो व्यवस्थाओं के अस्तित्व की मूल आर्थिक समस्या पर से उनका ध्यान हट जाता है।

कृषि के वर्तमान शोषण का सब से महत्वपूर्ण साधन कृषि उत्पादों को कम दाम देना है। इस अन्याय की अपेक्षा किसानों पर होने वाले अन्य सभी अन्याय कम महत्व रखते हैं। किसान अन्य सभी अन्यायों का मुकाबला आसानी से कर लेगा अगर उसका अपना व्यवसाय लाभदायक होगा। उत्पादन के साधनों पर मालिकाना अधिकारों के बजाय समाज के अन्तर्गत और बाह्य लेन देन की शर्तों से ही किसी भी समाज—अर्थव्यवस्था का सही चित्र खींचा जा सकता है।

आज की इण्डिया—भारत की दोहरी व्यवस्था पूर्णतः— इस बात पर निर्भर है कि कृषि उत्पादों की कीमतें कम रखीं जाती हैं। प्रचलित अर्थव्यवस्था का कोई सा अंग, या कोई भी समस्या ही क्यों न लीजिए, उस अंग का या उस समस्या का, पूरा पूरा आकलन होने के लिए उसका संबंध कृषि उत्पादों के कम दामों पर आधारित शोषण से जोड़ना अनिवार्य है।

स्वतन्त्रता प्राप्त होकर ३५ वर्ष गुजर गए लेकिन गरीबी नहीं हटी। इसका कारण यही है कि शोषण बन्द नहीं हुआ। गोरे अंग्रेज का स्थान काले अंग्रेज ने लिया। भारत पर से इंग्लैंड का राज्य समाप्त हुआ, लेकिन इंडिया का राज आरम्भ हुआ। जो कुछ भी प्रगति हुई वह इंडिया की हुई। दुनिया की औद्योगिक शक्तियों में इंडिया का नाम दसवें क्रमांक पर आया। भारत शोषित ही रहा। इथियोपिया के साथ भारत आज गरीबी के आखिरी चरण पर खड़ा है।

देश में सर्वत्र फैले और बढ़ते भ्रष्टाचार का कारण यह नहीं है कि हमारी नैतिकता खत्म हो चुकी है। कारण यह है कि हमारे यहाँ एक ओर असीम दरिद्रता है, और दूसरी ओर ग्राहक संस्कृति के द्वीप। परिश्रम और सफलता के बीच हुए सुनियोजित तलाक का अटल परिणाम है भ्रष्टाचार।

शहर बुरी तरह बढ़ रहे हैं। फुटपाथों पर भी रहने की जगह नहीं। अपर्याप्त बिजली, गंदा पानी, दूषित हवा, सर्वत्र गंदगी और कूड़ा करकट। लेकिन इस गंदगी में भी लाखों लोग रहते हैं, इतना ही नहीं रोज हजारों और आ जाते हैं। खेती करके भूखों मरने से यह अभद्र जीवन भी अच्छा ऐसा शास्त्रशुद्ध विवेक ये लोग करते हैं, यही इसका

कारण है। खेती में किये जानेवाले परिश्रम को जब तक मोल नहीं दिया जाता शहरों की ओर जानेवाले ये प्रवाह थमेंगे नहीं। कृषि उत्पादों को उचित दाम दिए बगैर शहरी जीवन की तमाम समस्याओं का हल हो ही नहीं सकता।

दरअसल आज किसी भी क्षेत्र की नीति खेती के शोषण से निश्चित होती है।

रक्षा नीति ही लीजिए। अंग्रेजों के राज में व्यावसायिक सेना खड़ी की गयी थी। लेकिन यह निश्चित ही विचित्र बात है कि आज स्वतन्त्र राष्ट्र में भी इस प्रकार की सेना मौजूद है। जिस चाव से क्रिकेट की मैचों का आंखो देखा हाल सुना जाता है उसी तरह जब देश पर आक्रमण होता है तब आकाशवाणी पर इंडिया वाले 'युद्धस्य कथाः रम्याः' सुना करते हैं। दरअसल, भारतीय सेना के ही दो मोटे भाग हैं। इंडिया का अधिकारी वर्ग और भारत का जवान — जो खेती से पेट न पाल सका इसलिए भरती हुआ है। अगर देश के हर नवयुवक को लाजिमी तौर पर सैनिक सेवा करनी पड़ती तो युद्ध की ओर देखने का दृष्टिकोण भिन्न होता। हर वर्ष, कुछ सप्ताह ही क्यों न हो, सैनिक सेवा प्रत्येक युवक से करवाई गई होती तो इसके कुछ अच्छे परिणाम हुए होते। परन्तु बहुसंख्यक लोगों के शोषण पर खड़ी इस दोहरी व्यवस्था के लिए सब को शस्त्र उपलब्ध कराना तो दूर शस्त्रास्त्रों की शिक्षा देना तक नामुमकिन है।

सेना का आधुनिकीकरण अत्यन्त खर्चीली बात है। बड़े राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय दलाल बड़े बड़े टैंक, लडाकू विमान, क्षेपास्त्र इत्यादि बेचने के लिए हमेशा ही उत्तुक रहते हैं। इस तरह खरीदे शस्त्रास्त्रों से पूरा युद्ध लड़ा जाए यह असम्भव है। जिस तरह बच्चे दिवाली के लिए खरीदे गए पटाखे शुरू में चला देते हैं, उसी तरह महुँगे दामो पर खरीदे शस्त्रों को तीसरी दुनिया के राष्ट्र अधिक से अधिक दो-तीन सप्ताह में ही उड़ा डालते हैं और फिर इसकी बाट जोहते रहते हैं कि संयुक्त राष्ट्र या अन्य कोई युद्धविराम का इन्तजाम करें। आधुनिक युद्ध सामग्री का बड़ी मात्रा में उपयोग करने पर भी अमरिका जैसे शक्तिशाली देश को वियतनाम जैसे देश के सामने मुँह की खानी पड़ी थी। इस प्रकार की युद्धनीति अपनाने की हिम्मत हमारे जैसे देश कभी नहीं कर सकते, क्योंकि हम सबसे अधिक महत्त्व इसे देते हैं कि शहरों का कोई नुकसान न होने पाए और इसके लिए व्यावसायिक सेना और आधुनिक शस्त्रों पर पैसे की भारी बरबादी करते हैं।

हमारी शिक्षानीति भी इसी तरह इंडिया के दृष्टिकोण से बनाई

गई है। कृषि उत्पादों को उचित भाव दिया जाता है तो ऐसी कोई नीति नहीं जिसमें मूलभूत परिवर्तन न करना पड़े। "कृषि उत्पादों को उचित दाम" का एक सूत्री कार्यक्रम दिखने में सीधा साधा है लेकिन इसी से मौलिक परिवर्तन हो सकता है। इस कार्यक्रम से आज तक के सभी सामाजिक — अर्थशास्त्रीय विचारों का सारा संदर्भ ही बदल जाएगा। जानकारों को इस कार्यक्रम के विभिन्न अंगों का परिशीलन और इसके विविध परिणामों का अध्ययन करना चाहिए।

लेकिन अगर यह सोचा जाए कि विचार स्वयंभू गुणों के कारण टिकता है और मान्यता पाता है तो वह सोच अशास्त्रीय ही होगा। अगर शेतकरी संघटना का विचार मान्यता पा रहा है तो इसका कारण यह है कि उस विचार के पीछे लाखों किसान खड़े हैं इस तरह की संगठित शक्ति का निर्माण पूरे देश में होना जरूरी है।

पूर्वप्रकाशन: मजदूर किसान नीति
१-१५ फरवरी १९८३

क्या भारत सचमुच आजाद है?

महाराणा प्रताप या शिवाजी के युग में आजादी और गुलामी का अर्थ बहुत साफ था। किसी क्षेत्र पर आक्रमण करना और उसे अपने अधीन बना लेना और फिर जो भी सामने आए उसे मिटा देना, क्रूरता से बल प्रयोग करना—यह गुलाम बनाने का ढंग था। जब स्थानीय लोग एकत्रित होते, आक्रमणकारी को भगा दिया जाता और अपने लोग शासन करने लग जाते तो यह आजादी होती थी। अपने ढंग के लोगों के शासन—चाहे उसका चरित्र, उसकी नीति कैसी भी हो—को आजादी मानना आज तक चला आया है। आजादी के बारे में अधिकांश व्यक्तियों की धारणा का आधार शासन करने वालों के 'चमड़े का रंग' ही है। अपने रंग का आदमी, अपने देश का आदमी शासन कर रहा हो तो यह आजादी है। पर वास्तव में आज जिसे अपने देश का माना जाता है, वह देशी जैसा केवल दिखता ही है।

गुलामी का नया ढंग

दूसरे महायुद्ध के बाद गुलाम देश तेजी से आजाद होते गये। इन्होंने अपनी आजादी को दिखाने के लिए एक राष्ट्रीय झण्डा, एक राष्ट्रीय पशु या एक राष्ट्रीय पक्षी बना लिया और बस इतने से ही प्रभुत्व सम्पन्न स्वतन्त्र देश कहलाने लगे। लेकिन इस तरह की झूठी और काल्पनिक बात शताब्दियों से दूसरी नहीं हुई। वास्तव में मध्यकाल में गुलामी का जो अर्थ था और आज उपनिवेशों की गुलामी का जो अर्थ है, इसके अन्तर को अनदेखा कर दिया गया। अब गुलाम बनाने के लिए ताकत की जगह व्यापार के नये तरीके काम में लाये जाने लगे। ये नये तरीके कई मायने में आकर्षक होते हैं।

पुराने जालिम आक्रमणकारियों को जल्दी ही हिंसक विरोधों का सामना करना पड़ता था। लेकिन औपनिवेशिक शोषण उसके मुकाबले ज्यादा शांत और कम पीड़ाजनक दिखाई पड़ता है। इसलिए इसे लोगों को दबाने

के लिए सेना भेजने की जरूरत नहीं पड़ती। अब ज्यादातर काम मूलतः आर्थिक तौर पर स्थानीय व्यापारियों और जमींदारों के माध्यम से ही किया जाने लगा। पुराने आक्रमणकारी जो लूट मचाते थे उसका शिकार ज्यादातर बड़े-बड़े अमीर राजा, उसका कोष और कीमती सामानों के बाजार ही हुआ करते थे। उनके लिए प्रत्येक झोंपड़ी को लूटना सम्भव नहीं था। लेकिन औपनिवेशिक शोषण का शिकार प्रत्येक घर और गांव जो कहीं भी, किंतनी दूर बसा हो, जो सबसे गरीब और लाचार है वह भी हुआ।

शोषण का सार

इस औपनिवेशिक शासन से मुक्ति पुराने आक्रमणकारियों से मुक्ति से सारतः भिन्न है। उन दिनों जब किसी आक्रमणकारी को भगा दिया जाता था, तो लोग खुशी मनाते थे, क्योंकि तब तबाही का करीब-करीब अन्त आ जाता था। आज औपनिवेशिक शोषण से मुक्ति तभी मानी जा सकती है जब इसके साथ आये शोषण के नये ढंग भी समाप्त हो जाय। गुन्नर मिर्डाल ने औपनिवेशिक शोषण के स्वरूप को इस प्रकार व्यक्त किया है, "अंग्रेजों के एशिया में आने के पीछे कच्चे माल को सस्ता खरीदने और तैयार माल को महँगे बेचने तथा आकर्षक बाजार पाने का कारण प्रमुख रहा। यही उनके साम्राज्य-विस्तार का आधार बना।" यह तो आज शायद प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि अंग्रेजों की नीति थी कच्चा माल सस्ते से सस्ते में खरीदना और तैयार माल महँगे से महँगे में बेचना। इसलिए चरखा अंग्रेजों की उस नीति के विरुद्ध भारतीय जनता के संघर्ष का प्रतीक बना। यह नीति ज्यादा से ज्यादा लोगों को गरीब बनाना चाहती थी और यूरोपीय देशों को समृद्ध।

औद्योगिक विकास के लिए यह जरूरी था कि कृषि से जो अतिरिक्त आय होती थी, उसका इस्तेमाल उद्योगों को बढ़ाने में किया जाए। और यह निन्दनीय काम उपनिवेशों में बड़े ही खुले ढंग से किया गया। औपनिवेशिक शासन सचमुच समाप्त हो गया है, आज इसका पता कैसे चले? आज शासन करने वालों की चमड़ी का रंग बदल जाने से या उनके द्वारा किये गये जन कल्याण कार्यों से औपनिवेशिक शासन के अन्त का पता नहीं चलता। स्वयं अंग्रेजों ने इस प्रकार के अनेक कार्य किये।

आन्तरक्षेत्रीय व्यापार के नियम

औपनिवेशिक शासन में निर्णायक बात यह होती है कि व्यापार-विनिमय में कैसे वह ज्यादा तर लोगों द्वारा उत्पादित कच्चा माल खरीदे और थोड़े लोगों द्वारा निर्मित तैयार माल बेचे। आज का भारतीय

अर्थशास्त्र प्रभावी वर्गों के हाथ का खिलौना है, जो अपने लाभ को बनाये रखने के लिए आँकड़ों को तोड़-मरोड़ देते हैं। अभी के पेशेवर अर्थशास्त्री कितने गन्दे तरीके से हाथ का कमाल दिखाकर यह काम करते हैं, वह आन्तर-क्षेत्रीय व्यापार में देखा जा सकता है। मूल्य सम्बन्धी गलत तथ्यों, गलत आधार वर्षों एवं भ्रान्तिपूर्ण विधियों के इस्तेमाल ने अर्थशास्त्रीय कार्य को पूर्णतः अविश्वसनीय बना दिया है। किसानों के पास ऐसे साधन नहीं हैं कि वे इन धूर्त अर्थशास्त्रियों की चालाकियों का जवाब दे सकें, नहीं तो वे साबित कर सकते हैं कि वास्तव में खेती का कितना खून बहा है।

मैंने जब किसानों को अशोक मित्र (प. बंगाल के मार्क्सवादी वित्त मन्त्री) की यह बात बतायी कि उपजों के दामों में काफी वृद्धि हुई है, तो ऐसी झुठी बातों के खुले ढंग से प्रचारित होने पर मुश्किल से विश्वास हुआ। कृषि उपजों के दाम को तय करने का सबसे आसान तरीका यह है कि उनके उत्पादन-लागत को देखा जाए। लेकिन जब ऐसा समय आता है पेशेवर अर्थशास्त्री उत्पादन लागत निकालने में बेशुमार कठिनाइयों का जिक्र करने लग जाते हैं। यह सच है कि उसमें कठिनाइयाँ हैं लेकिन ऐसी नहीं कि असानी से उनका हल न निकाला जा सके। खासकर राष्ट्रीय आय के तथ्यों का आधार इस काम में सहायक हो सकता है। अर्थशास्त्रियों के साथ विशेष बात यह है कि उन्हें कठिनाई केवल तभी नजर आती है जब कृषि मूल्य तय किया जाए, अन्यत्र नहीं। यहाँ मैं विधियों के विस्तार में न जाकर यह बता देना चाहता हूँ कि कृषि-मूल्यों को निश्चित ही अच्छे ढंग से तय किया जा सकता है।

हमने क्या चाहा था

शेतकरी संघटना ने पाया है कि फसलों की कटाई के समय जो मूल्य बाजार में मिलते हैं, वे लागत के आधे होते हैं। वास्तव में आजादी के समय से ही जानबूझकर कृषिउपजों के दाम सरकारी नीतियों में इतने रखे गये हैं जिससे किसानों का तीव्र शोषण हो सके। वी. टी. कृष्णमाचारी के नेतृत्व में १९४६ में गठित रिपोर्ट में इस विषय में भारतीय कृषि की स्थिति और आकाँक्षाओं का पता मिलता है। उसमें कहा गया है “भारतीय कृषि में कई खतरे निहित हैं, खासकर जब यहाँ वर्षा पर आधारित खेती की जाती है। फसलों की बीमारियाँ यहाँ आम हैं। इसके अलावे अलाभकारी मूल्यों का सामना करना पड़ता है, जो अधिकाँश किसानों को कठिन स्थिति में डाल देता है। कृषि उपजों के लिए निश्चित बाजार की व्यवस्था उसके लिए प्रभावकारी बात होगी, जो कृषि उपजों को बढ़ाने की राष्ट्रीय

आकाँक्षा की पूर्ति करेगी। किसानों को उपज का इतना दाम अवश्य मिलना चाहिए जिससे उनका जीवन निर्वाह बढ़िया ढंग से हो सके तथा दूसरे वर्गों के साथ समानता में पहुँच सके।”

आजाद भारत की सरकार ने लाभकारी मूल्यों का सवाल अवश्य सुलझा दिया होता, यदि यह अपने को औपनिवेशिक नीतियों से अलग करके चलती। वास्तव में आजादी के पहले जो भी कहा गया था अब उसका उल्टा हो रहा है। आजाद भारत में आर्थिक विकास की योजना का आधार ही कृषि मूल्यों को कम रखना रहा। यहाँ तक कि कृष्णमाचारी ने भी, जो राष्ट्रीय योजना आयोग के उपाध्यक्ष रहे अपनी बात बदल ली। और आर्थिक नियोजन में जिस प्रकार कृषि को महानगरों के अधीन बना दिया गया, इसमें उनका बड़ा योगदान रहा। जिससे भारत इण्डिया की पूँजी के लिए बाजार बन गया।

हमें क्या मिला

योजना आयोग के सामने शुरू में १,००० करोड़ रुपये कम पड़ने की समस्या थी। इसका निपटारा किस स्रोत से किया गया, वह देखिये: “कर प्रणाली के बजाय मूल्यों की नीति से हमें ज्यादा आय हो सकती है। गांव के लोग आमतौर पर किन वस्तुओं का इस्तेमाल करते हैं, हमें पता है। यदि राज्य-व्यापार के तन्त्र को हम ठीक से विकसित करते हैं, तो ग्रामीण क्षेत्र से जितना अभी निकाल रहे हैं, उससे ज्यादा निकाल सकते हैं।”

चतुर्थ योजना आयोग में कृषि-मूल्यों को निर्धारित करने वाली समिति ने कहा, “कृषि उपजों का मूल्य उत्पादन-लागत के आधार पर ही जितना कम हम रख सकें उतना ही अच्छा है। क्योंकि इसका दाम बढ़ाने से औद्योगिक वस्तुओं की उत्पादन-लागत बढ़ जायेगी।”

किसानों को उनकी उपज का कम से कम मूल्य मिले ऐसी नीति बनाने और चलाने वाले सी. सुब्रह्मण्यम् (भूतपूर्व केन्द्रीय कृषिमन्त्री) बाद में कहते हैं, “भारतीय खेती किसानों के लिये घाटे का व्यवसाय है। वह जितनी मेहनत करता है, और जितनी लागत लगाता है उसे नहीं मिल पाता। यह सब जिस वजह से है वह है सरकार की दाम नीति, जो आजादी के बाद से अपनाई गयी है, जो वास्तव में द्वितीय महायुद्ध के समय शुरू की गई रणनीति का अवशेष है।”

कृषि उपजों का दाम कम करने के जो तरीके आज अपनाये जाते हैं, उन्हें साफ देखा जा सकता है। हमारे आज के शासन कितने क्रूर हैं इसे

बन रही है।
श्री बी. टी. कृष्णामाचारी की अध्यक्षता में गठित एक कमेटी ने
सिफारिश की थी कि किसानों को वह मूल्य मिले जो कम से कम
कृषि-उत्पादों के लागत मूल्य के आधार पर हो। ऐसी सिफारिश देकर
कमेटी ने पाया कि उस समय पर उपलब्ध आंकड़ों के आधार पर कृषि की
वित्तिन उत्पादों के लागतमूल्यों की विस्तार से गणना नहीं की जा सकती
थी। अतः जब तक आवश्यक आँकड़े उपलब्ध नहीं होते तब तक के लिये
कमेटी ने सुझाव दिया कि कृषि व गैर-कृषि मूल्यों के मध्य एक ऐसे
आधार वर्ष के सन्दर्भ में समानता रखी जाए जब इन दोनों में समन्वय
सामान्य रहे जा सकते हों। और कमेटी ने इस उद्देश्यपूर्ति हेतु निम्न वर्षों को

नहीं बल्कि उनके अपने-अपने लगाने मूल्य से हीनी जाहिए। जाने माने अधुषास्त्रियों-अशोक, दर, सेठी, दांतवाला, अशोक मिश्रा, सिधू, सिंह, वैकटरमण व कहलें एवं त्यागी श्री-सारी सैद्धांतिक जा-जा वस्तुएं खरीदनी पड़ती हैं। दिनों दिन महँगी व जिनका निमाण वे करतें हैं दिनों दिन सस्ती हो रही हैं। व्यापार में कृषि के विरुद्ध स्थिति पिछले तीन पा दस साल से नहीं बल्कि १९२० के 'निराशा के युग' से

शतकटो संघटन द्वारा प्लाज्मा, गन्ना, कपास, धान, जौआर, ईंधन आदि के मांग को लेकर चलए गए आंदोलन साक्षी है कि किसान को इन उत्पादों के मिलने वाले दाम लगातार के मांग आड़े बच को ही पूरा करने हैं। लेकिन एक बात को साफ तौर पर समझना चाहिये कि हम दानों की संप्रदाय या अन्तर क्षेत्रीय व्यापार के बारे में चर्चा नहीं कर रहे हैं। हम उन कृषि मूल्यों की चर्चा कर रहे हैं जो जिनकी गुलामी और-कृषि मूल्यों से

लाभकारी मूल्यों की समस्या सुलझ जायेगी। लेकिन मैं अब समझता हूँ कि यह एक राजनैतिक इच्छा के अभाव का प्रश्न है।" श्री सी. सुब्रह्मण्यम् जो नयी कृषि योजना के निर्माता हैं, कहते हैं कि "भारतीय कृषि किसान के लिए निरशा का दस्त है। यहाँ का किसान अपनी मेहनत या उत्पादों के लगत मूल्य के मुताबिक दाम कभी नहीं पाता। ऐसा मुख्यतः इसलिए है क्योंकि वित्तीय विषय युद्ध के समय की परम्परा में ही स्वतन्त्रता के बाद दाम नीति को अपनाया गया है।"

इस प्रकार लगान मूल्य से भी कम दाम में कच्चे माल की प्राप्ति सरकार की आर्थिक नीतियों व योजनाओं का आधार बनी। श्री अन्नासाहेब शिन्दे जी केन्द्र में ग्यारह वर्ष तक कृषि नीतियों को तय करने वाले लोगों में से थे, ने एक वैयक्तिक वार्ता में साफ तौर पर बताया कि " मैं आशा में से था कि कृषि मूल्य आयोग की स्थापना के बाद से कृषि उत्पादों के करारों था कि

1.6.2.13.12 કુ પુ પુ

ਸਰ ੧੭ ੧੮ ੧੯ ੨੦ ੨੧

औद्योगिक क्रान्ति के उदय होने के समय से ही उद्योगों का विकास खेती के शोषण पर निर्भर रहा है। पूर्वाजी निम्नलिखित के लिये सस्ते कच्चे माल के स्रोत के तौर पर व सस्ते छाहान्न की आपूर्ति हेतु जिसने औद्योगिक मजदूरी को निम्न स्तर पर बनाये रखने में सहायता दी। हालाँकि इस शोषण का घातक निम्नमान तीव्रता के साथ हाल ही में महसूस किया जाने लगा है क्योंकि परिणाम तीव्रता के साथ हाल ही में महसूस किया जाने लगा है क्योंकि किसान महानगरीय देशों में उपनिवेशों के समान इसकी शोकाह्नक स्थिति में उपनिवेशों ने अपनी स्वतंत्रता के बाद एक समस्या का सामना कर ली। — औपनिवेशिक विकास की दिशा देना। राजा लक्ष्मणजी ने ऐसी स्थिति के परिणामों को बहुत पहले ही भांप लिया था। वे देश जो विना बाह्य उपनिवेशों के समर्थन के औद्योगिक विकास की ओर बढ़ रहे थे, आन्तरिक तौर पर उपनिवेश खड़े कर रहे थे। वे, विकास कर सकते थे। भारत को उपनिवेश बनाता व इसे सस्ते कच्चे माल का केंद्र बनाता। अतः दोहरे समाज का अस्तित्व ऐसी पूर्वाजीवादी पद्धति में अवश्यमापी हो उठा। पूर्वाजीवादी पद्धतियों में यह सहमति दिखती है कि औद्योगिक विकास के लिये कृषि से अतिरिक्त की प्राप्ति एक केंद्र आवश्यकता है। यह तथ्य कि कृषि से उद्योग की अतिरिक्त की आपूर्ति आवश्यक नहीं कि कृषि वर्गों का औद्योगिक वर्ग में स्थानान्तरण हो,

ਪ੍ਰਭੂ ਜੀ ਪਾਸੋਂ

हुआ। सरकार द्वारा घोषित समर्थन मूल्य एक ऐसे परिकलन (कम्प्यूटेशन) पर आधारित होता है जो रहस्य ही बना रहता है। लेकिन ऐसा विश्वास करने के आधार हैं कि सरकार द्वारा बनाई गई कृषि-व्ययों की सूची कभी पूरी नहीं होती है। अभी पिछले साल ही कृषि मन्त्री ने निर्देश जारी किए हैं कि कृषि-व्ययों में वाहन-खर्च भी जोड़ा जाएँ। महाराष्ट्र राज्य कृषि मूल्य आयोग केन्द्रीय सरकार द्वारा घोषित गन्ने के न्यूनतम मूल्य में ९५ रुपये बढ़ाकर २२५ रुपये प्रति टन लागत-मूल्य के तौर पर तय करती है। इसी प्रकार धान का उक्त आयोग द्वारा निर्धारित मूल्य बेतुका होने की सीमा तक दोषपूर्ण हैं। जो यह कहता है कि आयोग द्वारा तय किया गया मूल्य उचित व पर्याप्त है केवल एक दण्ड के योग्य है। उसे आयोग द्वारा निर्धारित मूल्य पर सम्बन्धित उत्पाद की आपूर्ति के लिए कहना चाहिए।

कृषि मूल्य आयोग व उसकी कार्यपद्धति

आयोग के मूल्य-गणना संबंधी दोषों का आधार किसानों को उचित मूल्य न उपलब्ध होने देने की राजनैतिक इच्छा ही है। आयोग द्वारा कृषि-व्ययों से संबंधित तथ्यों को जुटाने का माध्यम कतई संतोषजनक नहीं है। यह मूल्य सम्बन्धी तथ्य किसानों व कृषि-विश्वविद्यालयों एवं दूसरी ऐसी संस्थाओं से जुटाता है। इन संस्थाओं द्वारा अपनी उच्च क्षमताओं व इससे निर्धारित निम्न प्रति इकाई मूल्य घोषित किये जाने में अपना स्वार्थहित होता है। तथा जिन किसानों से यह तथ्य लिये जाते हैं उनमें अपना व्यय 'वैज्ञानिक' रूप से व्यवस्थित न रखने की आम प्रवृत्ति होती है। फिर उनमें से अधिकतर निम्न तकनीकी स्तर की खेती करते हैं जिसमें स्वाभाविक व फैक्ट्री की खाद एवं कीटनाशक दवाओं का प्रयोग नगण्य है, इंटरकल्चर-विधि अत्यधिक कम है, मिट्टी के गुण को बचाए रखने हेतु आवश्यक व्यय अत्यधिक होने के कारण विशेष-स्तर पर ही प्रचलित है। इस प्रकार के भ्रामक तथ्यों के आधार पर ही कृषि-उपजों के मूल्य आंके जाते हैं। भूमि-लगान अप्रचलित व पुराने लगान-रेकार्ड या उपजके मूल्य के आधार पर लगाये जाते हैं। मजदूरी का जोड़ राज्य द्वारा निर्धारित न्यूनतम मजदूरी से भी कम होता है। विभिन्न उपजों के लिये सरकारी एजेन्सियों द्वारा हड़पा गया खर्च आयोग द्वारा सोच गये कृषि खर्च से कहीं अधिक होता है।

बेतुकापन

यह मानना मुश्किल होगा कि सम्बन्धित अधिकारी सरकार द्वारा घोषित समर्थन मूल्य की अपर्याप्तता के प्रति सचेत नहीं हैं। मूल्य-सम्बन्धी

बेतुकेपन की सीमा क्या हो सकती है यह बीड़ी-तम्बाकू उत्पादकों के सम्बन्ध में साफ है। १९७८ में बीड़ी-तम्बाकू उत्पादकों ने मांग उठाई कि उन्हें तब प्रचलित बाजार मूल्य ५ से ७ रु. किलो के बजाय तम्बाकू के लिए १० से १५ रु. प्रति किलो मिलना चाहिए। अन्त में सरकार ने उक्त उपज का समर्थन मूल्य १ से १.४० रु. के बीच तय करने का अपना विचार दिया। बेतुकेपन की और आगे सीमा क्या होगी?

मानसून, जिस पर खेती निर्भर करती है, भी अपना सीधा असर दो प्रकार से रखता है। पहला वर्षाअभाव में फसल चौपट जिससे उपज पर व्यय दुगुना व इसी समय बाजार में अत्यधिक उपज का उपलब्ध होना जिसके परिणाम में बाजार दाम में भारी कमी। किसान इन्हीं दो कारकों की कैची के बीच फंसा रहता है जिसका लाभ सदियों से व्यापारी उठाते रहे हैं। और सरकार व्यापारियों की इस लूट को आसान बनाती है। सूखे के दिनों में व्यापारियों को भी अनाज के भारी दाम चुकाने पड़ सकते हैं। लेकिन सरकार वहां भी व्यापारियों की सहायता हेतु पहुंचती है और किसानों को लेवी के माध्यम से मजबूर करती है कि वे उपज को निम्न बाजारमूल्य व उपजों के लागत मूल्य से भी कम दाम में तुरन्त उपलब्ध करें। दूसरी ओर समृद्धि की दिनों में उपज-वसूली में देरी, कम बाजार-मूल्य आदि भी खेती व किसान को नुकसान ही पहुंचाते हैं।

फिर सरकार उपजों के दाम गिराने में आयात-निर्यात का भी बड़ी चालाकी व हृदयहीनता से प्रयोग करती है। इस समय देश में लगभग ८ लाख कपास की गठरिया आन्तरिक मांग के अभाव में सड़ रही हैं। आयात के लायसेंस निरन्तर माँग व प्रयास के बावजूद भी नहीं दिये जा रहे हैं। जबकि इसी साल पाकिस्तान से ४ लाख लघु व मध्यम रेशों की कपास के गठरियों का आयात किया गया है। यह आयात इस कच्चे माल के अभाव के सम्बन्ध में एक समाचार के प्रकाशित होने के दूसरे हफ्ते में ही किया गया था।

इस समय जो सबसे अधिक प्रासंगिक बात है वह इस तथ्य को समझना कि अलाभकारी कृषि-मूल्य ही खेती से सम्बन्धित सभी समस्याओं का केन्द्र है। समस्या का हल किसानों को केवल लाभकारी मूल्य दिलाने में ही है। खेती से सम्बन्धित किसी भी समस्या का उचित व पूर्ण रूप से समाधान तब तक नहीं हो सकता जब तक कि खेती में, किसी भी नाप की जोत में, उपज का दाम लगाए गए दाम से उचित रूप से अधिक नहीं। लेकिन हमारी सरकार के रवैये से तो लगता है कि वह कुछ भी करने को

तैयार है सिवा उपजों के लाभकारी मूल्य देने के।

कृषि उत्पादों में वृद्धि का भी एकमात्र तरीका उपजों के लाभकारी मूल्य ही हैं। किसानों को आकर्षक मूल्य मिलने लगे तो वह शर्तिया तौर पर भूमि-प्रसार के अन्य कार्यक्रम (सिंचाई सहित) स्वयं ही लेने लगेगा। आज कृषि से संबंधित किसी भी गुत्थी को लीजिये तो पायेंगे कि ये अन्ततः अपर्याप्त मूल्य व भारत-इण्डिया के क्रूर विभाजन के कारण ही है। बिचौलियों को मिलने वाले अनुचित लाभ में केवल एक तथ्य ही सहायक है और वह यह कि कृषि उपज “भारत” से खरीदकर “इण्डिया” में बेची जाती है। इसी तथ्य के तहत व्यापारी सरेआम तस्करों के समान लाभ कमाते हैं। आज हम तकनीकी के आयात पर निर्भर करते हैं क्योंकि इस सम्बन्ध में कृषि से हमारी कोई आशा नहीं बंधती। अगर ऐसा न होता तो सचमुच एक सच्ची व प्रासंगिक तकनीकी पश्चिमी संस्थानों या विश्वविद्यालयों में नहीं बल्कि खेतों में पैदा होती। आज कृषि-भूमि को एक बोझ के तौर पर लिया जाता है। आज खेती का काम उन लाखों “शरणार्थियों” के अनुदानों से चलता है जो “भारत” से भागकर ‘इण्डिया’ में काम कर रहे होते हैं व जो अपनी आमदनी का एक हिस्सा उन लोगों को भेजते हैं जो भूमि पर बेहतर भविष्य की आशा में जैसे तैसे काम जारी रखते हैं। आज कृषि को जीवित रखने के लिए राष्ट्रीयकृत बैंकों व दूसरे वित्तीय संस्थाओं से कर्ज की आवश्यकता पड़ती है जिसे समाप्त किया जाना ही पड़ेगा क्योंकि आर्थिक रूप से “मुर्दा” व्यवसाय को दिये गये कर्जों को समाप्त किये जाने का एक आधार होता है। कभी कभी कृषि में ही दोबारा व्यय करना बुद्धिमानी इसलिये नहीं समझी जाती क्योंकि खेती एक घाटे का सौदा है।

जो कुछ किसान अब तक माँगते रहे हैं वह यही है कि वे अपना पेशा आर्थिक रूप से क्रियान्वित करने के लिए स्वतन्त्र हो। इतनी छूट तो मिलनी ही चाहिये। आज किसानों का अपने ही व्यवसाय पर कोई नियन्त्रण नहीं इससे बड़ी विडम्बना और क्या होगी? बाहरी शक्तियाँ (सरकार, व्यापारी, बिचौलिए आदि) ही उसके पेशे का निर्धारण करते हैं। टाटा, बिरला आदि को तो यह छूट है कि वे अपने माल पर लागत मूल्य से कहीं अधिक दाम पाकर घाटे के सौदे से बच सकते हैं। तब फिर १०, २० या ५० एकड़ भूमि के स्वामी किसान को ही इस अधिकार से क्यों वंचित किया जाता है। “इण्डिया” में बसने वाले लोग अनायास ही ‘भारत’ की गरीबी से सहानुभूति जताने लग जाते हैं यह इस बात का प्रमाण है कि

“इण्डिया” को ‘बांटो और राज करो’ एवं ‘गोरे आदमी का बौझ’ लक्षण से परिपूर्ण अपना औपनिवेशिक लिबास उत्तराधिकार में मिला है। किसानों द्वारा अलाभकारी मूल्य पाये जाने पर भी मुद्रास्फीति अपना जोर दिखाती है तो इससे किसान का क्या सरोकार? अगर एक आर्थिक तन्त्र में व्यापार के किसी एक क्षेत्र को लाभकारी मूल्य देने का अर्थ मुद्रास्फीति होता है तो ऐसा तन्त्र कितने दिन चलेगा।

लाभकारी मूल्यों के रचनात्मक आर्थिक परिणाम देखने है तो प्याज-उत्पादक क्षेत्रों में आये परिवर्तनों में देखे जा सकते हैं। खेत-मजदूरी प्याज के दाम से अधिक मात्रा में बढ़ गयी है। लाभकारी मूल्य पाकर किसान धरोहर पर रखी अपनी जमीन छोड़ा रहा है, कर्ज चुका रहा है। भूमि व सिंचाई व्यवस्था में जबर्दस्त सुधार आया है। गैर-कृषि रोजगार देने की दिशा में (लघु उद्योग आदि को बढ़ावा) भी शुरुआत हो चुकी है। गांव मानो नयी जिन्दगी पा रहे हैं —और ये सब कुछ बिना किसी अतिरिक्त राज्य की सहायता के। अच्छा होता कि हमारे अर्थशास्त्री बजाये पूर्व-निर्धारित विचारों में अपनी खोपड़ी खपाने के, इस शान्त क्रान्ति का रोचक अनुभव व्यावहारिक रूप से प्राप्त करें।

आर्थिक विकास व प्रगति प्रकृति में निहित एक आत्म-निरन्तरता की शक्ति वाली एवं सुखदायी प्रक्रिया के चिन्ह होते हैं जो उतने ही प्राकृतिक स्वाभाविक होते हैं जितना कि किसी शिशु का बढ़ना। लेकिन “इण्डियन” अर्थशास्त्री कृषि मूल्यों के हस्तक्षेप से इस शिशु का गला घोटने पर उतारू हैं व एक स्वस्थ शिशु को फोड़ाग्रस्त बनाने पर तुले हैं। काश “शिशु” को उसकी अपनी वृद्धि के सहारे ही छोड़ दिया गया होता।

पूर्व प्रकाशन: मजदूर किसान नीति,
१-१५ दिसंबर १९८२

५.

देश की वर्तमान राजनैतिक स्थिति और भावी संभावनाएँ

मेरी दृष्टि में चुनाव परिणाम, एक या दूसरी राजनैतिक पार्टी की जीत, एक या दुसरे व्यक्ति का सत्ता में आना ये सब घटनाएँ महत्त्वहीन हैं। श्रीमती गाँधी का जीतना या हारना उतना ही महत्त्वहीन है जितना दिल्ली तख्त के अन्तिम वर्षों में एक या दूसरे शाहजादे का गद्दी पर बैठना। इतिहास राजकीय परिवार में जन्म, विवाह, मौत इत्यादि का घटनाचक्र नहीं है।

ज्यादा महत्त्वपूर्ण शायद यह है कि १९७७ के बाद मतदाताओं ने लगातार तीसरी बार सरकार बदली है। पहले जनता लहर, उसके बाद इंदिरा की वापसी और अब उनका विरोध। कुछ एक दशक के पहले चुनावों में भारतीय मतदाताओं की भूमिका स्थिरता की रही थी। फिर क्यों अब एक छोर से दुसरी छोर डोलने की प्रवृत्ति? नाव कभी बाँए की ओर झोंका खा रही है कभी दाएँ को ओर। ऊपर उठने वाले हिस्से में शामिल होने से कुछ काम नहीं बनेगा, नाव इसलिए झोंका खा रही है। क्योंकि पतवार टूट चुकी है और पाल फट गये हैं। वह डूबने ही वाली है।

अकाली आन्दोलन, असम आन्दोलन, जम्मू-कश्मीर और आन्ध्र की गतिविधियाँ — सब एक ही मूल रोग के लक्षण हैं। यह देश जिसमें असंख्य धर्म, भाषाएँ, संस्कृतियाँ आदि सम्मिलित हैं, केवल तभी एकरूप होकर रहेगा जब वह एक न्यूनतम गतिशीलता प्राप्त करेगा। चूंकि हम उन मोर्चों पर भी एक न्यूनतम प्रगति हासिल करने में असफल हुए हैं जो वास्तव में महत्त्वपूर्ण इसलिए हैं, देश के विघटन का खतरा उत्पन्न हो गया है।

मात्र भूख से शायद कोई मरता है? अकाल में भी नहीं। जो भूखे

हैं, रोगों के कारण मरते हैं— हैजा, दस्त आदि से। क्योंकि उन्हें खाने योग्य चीजें नहीं मिलती हैं और उनकी सहनशक्ति कम होती है। इसी तरह कोई देश भी केवल आर्थिक कारणों से विघटित होता हुआ दिखता नहीं है। आन्तरिक विरोध और बाहरी आक्रमणों के कारण उस देश का पतन हुआ ऐसा बताया जाता है। अगर हमारा देश अपने वर्तमान पथ पर बढ़ता रहेगा तो उसका नाश निश्चित रूप से होगा। लेकिन तब लोग कहेंगे कि यह आन्तरिक संघर्षों और उनके बाहरी दुश्मनों द्वारा प्रोत्साहन से हुआ। कोई यह नहीं कहेगा कि पतन और नाश का वास्तविक कारण यह था कि व्यवस्था बहुसंख्यक जनता को आशा का एक किरण भी प्रदान करने में असफल हुई थी।

ऐतिहासिक विप्लव की पूर्व बेला पर दुखान्त और विदूषक दोनों पात्र पैदा होते हैं— मेरी इन्टोनेटी, रास्पुटिन, अंतुले, गुंडुराव, राजीव, बाबासाहब भोसले आदियों की प्रचुरता आने वाली महाविपत्ति का पूर्वलक्षण मात्र है।

व्यवस्था अपनी आखिरी टांग पर खड़ी है। इसकी संभावना है कि नयी व्यवस्था सभी तरह के विरोध को कुचलने वाली हो। शोषित और उत्पीड़ित जनता को रोने की सान्त्वना भी नहीं मिलेगी। एक मात्र विकल्प नये अर्थशास्त्र से युक्त किसान आन्दोलन है, जो तेज आर्थिक औद्योगिक विकास का मार्गदर्शन करेगा। एक ऐसे विकास का, जिसका आधार मानवता के इतिहास में अब तक अपनायी गयी पूँजी-संचय की अमानुषिक प्रक्रिया नहीं होगा।

हमारी अपेक्षा के पहले ही किसान को निर्णायक भूमिका अपनाना पड़ेगा। दमनकारी व्यवस्था को हटाने के लिए संघर्ष करने की जरूरत नहीं पड़ेगी। वह आप ही ध्वस्त हो जाएगी। किसान को एक विकल्प देना होगा। निरंकुश ताना शाही की एक दर्दनाक लेकिन छोटी अवधि से गुजरे बगैर यह संभव होगा या नहीं यह इतिहास ही बताएगा।

पूर्व प्रकाशन: मजदूर किसान नीति
१६-३१ मार्च १९८३

शेतकरी संघटना के विरोधी

संघटना से इतनी नाराजगी क्यों?

कुछ लोग संगठना के खिलाफ बहुत नाराजगी से बोलते या लिखते हैं। इतना नाराज होने की वजह क्या है? आखिर संघटना की मांग क्या है? खेती उत्पादों को उत्पादन खर्च निकल आने की कीमत मिले इस मांग पर इतना गरम होने की क्या बात है?

शेतकरी संघटनाद्वारा रखे गये विचारों में एक नया अर्थशास्त्र समाहित है। विकास का एक सूत्री कार्यक्रम उसमें है। 'गरीबी हटाने' को जिन लोगों ने धन्धा बना लिया है वे 'गरीबी हटाना आसान है' यह कहने पर नाराज तो होंगे ही। इन लोगों में अर्थशास्त्री, वामपंथी कार्यकर्ता, नेतागण, सफेद पोश लोग आदि सभी हैं। ये विराधी जो तर्क देते हैं उनके सत्यता की जांच हमने अनेक बार की है। उनके तर्क इतने खोखले होने के बावजूद वे संघटना के बारे में इतना जहर भरा क्यों बोलते हैं? यदि हम उनके बोलने का उद्देश्य समझ लें तो उनकी नाराजगी का कारण समझ में आ सकता है।

अर्थशास्त्रियों का दुःख

संघटना ने प्रस्थापित अर्थशास्त्रियों के अनेक सिद्धांतों को गलत साबित किया है। अर्थशास्त्री जिन सिद्धांतों को पढ़ते या पढ़ाते हैं वे सिद्धांत आधार हीन हो गये हैं।

संघटना के विचार किसी एक व्यक्ति के नहीं हैं, किसी एक आदमी द्वारा प्रतिपादित नहीं हैं। सैकड़ों किसानों, खेतीहर मजदूरों के अनुभवों में उनका जन्म हुआ है। मेहनत करके नये तरीकों को सीख कर उनमें कुशलता हासिल करने वाले, राजनीति से दूर रहने वाले माधवराव मोरे, प्रल्हाद पाटील कराड, भाई धारिया, भास्करराव बोरावके आदि जैसे कुशल किसानों के अनुभवों में इन विचारों का जन्म हुआ है। चन्द्रकांत

वानखेडे, शेषराव मोहिते आदि जैसे संघर्ष के लिए समर्पित कार्यकर्ताओं के अनुभवों से ये विचार पनपे हैं।

ये विचार चाकण, बागलाण, निपाणी के लाखों किसानों ने रखे। जिस देश में कुछ घण्टों की मीटिंग के लिए ट्रक, ट्रॉली, ट्रेन में भरकर लोगों को लाना पड़ता है, उनके खाने-पीने की व्यवस्था करनी पड़ती है और ऊपरसे उन्हें पैसे देने पड़ते हैं, उसी देश में लाखों किसान ऐसे ही जमा होते हैं। खुद साथ में रोटी बाँध के लाते हैं। बैलगाड़ियों से आते हैं, पैदल आते हैं। जो वाहन उपलब्ध हो उससे आते हैं। उनमें छोटे-बड़े का, जात पात का, धर्म का, भाषा का भेदभाव नहीं होता। सभी सभाओं में आते हैं। कुछ गोली बारी में मर गये, हजारों जेल में गये, हजारों ने लाठियाँ झेली। कुछ जिंदगी भर के लिए अपंग हो गये और फिर भी संघटना के साथ रहे। इन सब लोगों ने ये विचार रखे, कलम से नहीं अपने कार्य से।

दूसरे महायुद्ध के बाद से लिखित शब्द मर गये। लिखने वाले अनेक हुए, छपाई अनाप शनाप हुई। लिखी चीजों को अब कोई पूछता नहीं, कोई मानता नहीं। व्यवसायी अर्थशास्त्री लिखते ही रहते हैं। अपने सम-व्यवसायियों (अन्य अर्थशास्त्रियों) द्वारा लिखी सामग्री भी वे शायद ही ध्यान से पढ़ते हैं। देश की आर्थिक नीतियों पर अर्थशास्त्रियों का असर शून्य हो गया है। आर्थिक सत्ताधारियों के राजनैतिक कार्यवाहक अनुकूल लिखने वाले अर्थशास्त्रियों को साथ में रखते हैं। इस वजह से अन्य अर्थशास्त्री भी अनुशासन में रहते हैं। देश की अर्थव्यवस्था चरमरा गयी है। विकास अवरुद्ध हो गया है। गरीबी बढ़ रही है। इन वास्तविकताओं को सभी को मानना ही पड़ता है। पैंतीस साल की योजनाओं में, नीतियों में कहीं बहुत बड़ी गलती हुई है यह जाहिर है। छोटे मोटे सुधारों से अब बात बनेगी नहीं। साम्राज्यवादी शोषण की समाप्ति के साथ विकास के मार्ग का प्रमुख अवरोध दूर हो गया लेकिन फिर भी तीसरी दुनिया का विकास नहीं हो सका। इस असफलता के कारण ढूँढ़ना जरूरी है।

यह विचार विश्वविद्यालयों या संशोधन संस्थाओं द्वारा नहीं बल्कि रास्ते पर बैठे किसानों द्वारा सामने लाये गये। विद्वान जहाँ मूढ़ बने वहाँ अनाड़ी ने मार्ग प्रदर्शन किया। इस चमत्कार का अर्थ बताने प्रस्थापित, विद्वानों को समझाने के लिए किसी अर्थशास्त्री को आगे आना चाहिए था। दुर्भाग्य से ऐसा हुआ नहीं।

अर्थशास्त्र में नये सिद्धांत इंग्लैण्ड अमरीका से सामने आते हैं।

विलायती किताबें बगल में दबाकर देशी अंग्रेजी में उनपर विद्वत्तापूर्ण चर्चा होती है। अपने ही देश में नये विचारों का चमत्कार हो सकता है यह बात विद्वानों की समझ में आने का कोई कारण नहीं है। क्योंकि ऐसा पहले कभी हुआ नहीं है। यदि कोई व्यावसायिक अर्थशास्त्री किसानों द्वारा सुझाये गये विचारों को पश्चिमी परिभाषाओं में रखने का हौसला दिखाता भी तो उसका मजाक बनाया जाता ही, हो सकता है उसे नौकरी से भी हाथ धोना पड़ता। यदि सम्भव होता तो व्यवसायिक अर्थशास्त्री इस बात को ही नहीं मानते कि किसान आंदोलन के पास आर्थिक मसले पर भी दृष्टिकोण है। आज खेती उत्पादों की कीमतों की चर्चा है उसका कारण किसान आंदोलन की ताकत है।

सामर्थ्यहीन नेपोलियन जब एल्बा द्वीप से भागा था तब अखबारों में 'धोखेबाज का पलायन,' करके खबर छपी थी, वही नेपोलियन जब सामर्थ्यशाली होकर पैरीस की सरहद पर पहुंचा तो 'सम्राट का भव्य स्वागत' शीर्षक छपने लगे। बुद्धिजीवियों की यही परम्परा है। शेतकरी संघटना की ताकत के कारण उसके विचारों की ओर ध्यान न देना आज सम्भव नहीं है।

औद्योगिक क्रांति के बाद पश्चिमी देशों में आर्थिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आये। स्वाभाविक तौर पर उस सम्बन्ध में भले बुरे विचारों का जन्म भी पश्चिमी देशों में हुआ। आज अर्थशास्त्र का इतिहास पहले के उपनिवेश-भारत जैसे देश में बन रहा है। इस संबंधी सिद्धान्त पश्चिमी देशों में उपजेंगे यह आशा करना उष्णकटिबंध में पाये जाने वाले रोगों सम्बन्धी संशोधन लन्दन की संस्थाओं में होने की आशा रखने जैसा ही है। लेकिन परदासता की परम्परा तोड़ना भी आसान नहीं है।

साम्राज्यवादी शोषण के सबसे बड़े शिकार— भारत में विकास का प्रश्न आज सर्वाधिक भयानक रूप में सामने है। यहीं नये विचारों का जन्म हो यह स्वाभाविक है, लेकिन प्रस्थापित अर्थशास्त्रियों को पसन्द आने लायक नहीं है। मार्क्स को भी अभी तक इन अर्थशास्त्रियों की मान्यता नहीं मिली है संघटना तो दूर की बात है।

संघटना के अर्थशास्त्र ने कीन्स के सिद्धान्त को आधार दिया है। सभी उत्पादक घटकों का स्वाभाविक तौर पर पूरा उपयोग होता है इस सनातन विचार का पुनरुत्थान किया है, आर्थिक वर्गों की कल्पना का स्वरूप बदल दिया है, उत्पादन के साधनों की मिल्कियत के आधार पर समाज रचना होती है यह विचार मर्यादित काल में ही लागू होते हैं,

अविकसित समाज में खेती के शोषण के तरीके से समाज रचना निश्चित होता है ये विचार रखे हैं; विकसित देशों में विकसित व पारम्परिक व्यवस्थाओं का द्वंद्व उनकी दरिद्रता का लक्षण न होकर कारण है, पूंजी निर्माण के लिए खेती से प्राप्त हुई बचत किसानों के पास से निकाल लेने की जरूरत नहीं है, उपनिवेशवाद के साथ गरीबी खतम नहीं हुई इसका कारण नया आन्तरिक उपनिवेशवाद है, गरीबी हटाने के लिए गरीबी बनाये रखने एवं बढ़ाने के प्रयास रोक दें तो काफी है इस किस्म के, प्रस्थापित श्रद्धा को हिला देने वाले विचार सामने रखे हैं। अर्थशास्त्रियों के दिमाग घुमा देने वाले विचार है ये। इस विषय पर यदि कोई मान्यता प्राप्त पश्चिमी अर्थशास्त्री प्रकाश डाले तो देशी अर्थशास्त्रियों के लिए आसान होगा।

बामपंथी कार्यकर्ताओं की असफलता

अनेक सामाजिक राजनैतिक कार्यकर्ताओं की स्थिति और भी ज्यादा नाजूक है। थोड़े बहुत अध्ययन के बाद किसी विशेषज्ञ की तरह ये लोग गांव में जाकर काम करने लगे। गांव के 'धनी लठैतों' के खिलाफ थोड़ा बहुत आंदोलन किया गरीबों को उससे भले ही कुछ मिला न हो, लेकिन कुछ लोगों में उनका एक नाम हुआ, आन्दोलन विलीन हो गया लेकिन उसका नशा अब तक उतरा नहीं है। ऐसे अनेक कार्यकर्ता देश भर में मिलेंगे। ग्रामीण 'धनी लठैत' की शहरी पूंजीपति से छोड़िये शहरी मध्यम वर्ग से भी बराबरी हो सकती है या नहीं यह विचार उन्होंने कभी किया नहीं। अठारह एकड़ के मालिक का उल्लेख टाटा बिड़ला के बराबर, बड़े किसान करना कितना सही है यह विचार भी उनके मन में नहीं आया। तीन हजार रुपये मिलने वाले कर्मचारियों की वेतन वृद्धि के लिए लड़ने वालों ने दस एकड़ खेती में कष्ट करने वालों के प्रति इर्षा भाव रखा। कार में घूमने वाले धनी लठैतों की कमाई खेती से नहीं हो सकती यह समझने लायक खेती का अध्ययन भी उन्होंने नहीं किया। भूपति किसान और खेतिहर मजदूर में उतना ही फर्क है जितना सूपे और घट्टी में पड़े अनाज में है। खेतिहर मजदूरों की आय बढ़ानी हो तो खेती लाभदायक होनी होगी इस बात की याद भी उन्हें नहीं रही। गांवों में तनाव पैदा करके हम पूरी खेती का शोषण करने वालों के हित में ही काम कर रहे हैं इस बात को वे नहीं समझ पाये।

इनमें से अनेक कार्यकर्ता ईमानदार थे। वे निकले तो थे भगवान के तीर्थस्थान जाने लेकिन पहुंचे चोरों के तीर्थस्थल पर। गलत रास्ता होने

की सुध आने पर भी सही रास्ता हाथ नहीं लगा। उसमें से कुछ लोगों ने आन्दोलन में कमाये थोड़े बहुत नाम का इस्तेमाल करके अपने लिए कोई जगह बना ली। बाकी उसी तरह फंसे रहे। अनुयायियों का उत्साह खतम हो रहा था। एक दूसरे की खामियां गिनाई जा रही थी, कुछ न कुछ करते रहना तो जरूरी था ही।

इन्हीं में से कुछ ज्यादा भाग्यशाली पार्टी राजनीति में घुस गये। समाजवाद की, गरीबों के कल्याण की, किसानों की बात की जाय लेकिन उस तुलना में काम किया जाय बहुत छोटा। मजदूरों के, सफेद पोशों के आंदोलन का राजनीति में वामपंथी विचारों के दावेदार होने के आधार पर कुछ लोगों ने नाम कमाया, कुछ लोगों ने पैसा।

खेती उत्पादों को उत्पादनखर्च के बराबर कीमत नहीं दी जाती। खेती घाटे में चलती है इसे सिद्धांत के तौर पर ये लोग मानते हैं। लेकिन किसी भी माल को उचित मूल्य मिलना चाहिए यह कहने पर उनकी नापसन्दगी छुपती नहीं है। खेती एक घाटे का साधन है यह मानने के बाद जमीन की मलिकयत में गैर बराबरी सम्बन्धी, जमीन के पुनर्वितरण सम्बन्धी अपने पहले विचार हास्यास्पद हो जाते हैं यह भी इन्हें समझता नहीं है। जमीन का पुनर्वितरण करना है तो पहले उसे लाभ का साधन बनाना होगा यह भी इन्हें नहीं समझता। किसान उनके पीछे कभी भी नहीं रहे—भूपति किसान, भूमिहीन किसान, खेतिहर मजदूर कोई भी नहीं। पाँच पच्चीस लोगों का दयनीय जुलूस निकाल कर उन्हें संतोष मानना पड़ता है।

शेतकरी संघटना की एक आवाज पर लाखों किसान उठ खड़े होते हैं इसका इन लोगों को दुःख होता है क्योंकि संघटना की सफलता में उनके जिन्दगी की असफलता है।

सफेदपोश बुद्धिजीवी

शहरों में रह रहे तथाकथित बुद्धिजीवी शेतकरी संघटना का विरोध करें यह स्वाभाविक है। अनाज, सब्जी, दूध के भाव बढ़े तो ये लोग जिन्दा नहीं रह पायेंगे ऐसी बात नहीं है। लेकिन खाने पीने पर खर्चा साधारण रहे, वेतन—भत्ता बढ़ता रहे बची हुई रकम में से नाटको—सिनेमाओं में दिखाये जाने वाले आधुनिक रहन—सहन का एक छोटा सा ही सही प्रवाह अपने घर में भी बहे यह उनकी इच्छा। रेडियो खरीदना है, पंखा लेना है ऐसी उनकी अपूर्ण इच्छाएँ हैं। किसानों को न्याय मिले यह ठीक है लेकिन उसकी आँच हम पर न पड़े।

झोपड़पट्टी में रहने वाले शहर के गरीबों पर खेती उत्पादों की

कीमतों की वृद्धि के क्या असर होंगे इसका वे दर्दभरा वर्णन करते हैं। खेती उत्पादों की कीमतों में वृद्धि के साथ मुद्रास्फीति बढ़ने का खतरा उन्हें नजर आता है। किसान के पास पैसा आने पर वह शादी—ब्याह पर, शराब आदि पर खर्च कर देगा इसकी चिन्ता उन्हें होती है। केवल आर्थिक प्रगति से कुछ नहीं होगा, सामाजिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक विकास भी होना होगा ऐसा उनका कहना है।

झोपड़पट्टी के गरीब और सफेदपोशों का कोई सम्बन्ध नहीं है। दोनों की दुनिया अलग—अलग है। यहां तक की सब्जी—भाजी की दुकाने अलग हैं। झोपड़पट्टीवाले शहर में इसलिये आये क्योंकि उनकी खेती में घाटा हुआ। खेती उत्पादों को उचित मूल्य मिले तो उनमें से कुछ अभी भी गाँव में लौट सकते हैं। कम से कम गाँव से शहर आने वालों की संख्या निश्चित कम होगी लेकिन जब से विचार करने वाले सफेदपोशों को उससे क्या लेना?

प्रतिष्ठानों की प्रतिष्ठा

ग्रामीण भागों के उद्धार के लिए अनेक भ्रष्ट लोगों ने संस्थाएँ चलायी हैं, ट्रस्ट बनाये हैं। इन प्रतिष्ठानों को दान अच्छी तादाद में मिलता है। इन प्रतिष्ठानों ने पूरे के पूरे गांव गोद लिये हैं। गांव को पैसा दिया, पानी दिया, खेती में सुधार लायें, उत्पादन बढ़ाया। दवा—दारू की व्यवस्था की। लाचार किसान कृतज्ञता से भर गया। कार्यकर्ताओं को मानवता की सेवा करने का सुख मिला। गाँव में बड़े—बड़े लोग आने लगे—विलायती भी। यही प्रयोग अब साढ़े पाँच लाख गांवों में हो तो सभी गांव ठीक हो जायेंगे ऐसा महसूस होते न होते कर्ज वापसी का समय आता है। शुरू में अच्छी फसल देने वाली जमीन अधिकाधिक खाद की मांग करती है। कभी बीजों की उपज मार खाती है। कभी मौसम साथ नहीं देता, फसल नष्ट होती है, अच्छी फसल होती है तो कीमते नीचे गिरती हैं। जिस आदर्श नमूने को देखकर और गांवों को बढ़ना होता है वह आदर्श ही डगमगाता है।

शेतकरी संघटना के आर्थिक विचारों से ये भोले—भाले सेवार्थी बेनकाब हो गये हैं।

नेताओं का रोष

अर्थशास्त्री, वामपंथी कार्यकर्ता गण, बुद्धिजीवी, संस्थासेवक सभी उनके विचारों, कार्यपद्धतियों को धक्का लगाने की वजह से दुःखी हैं। इन विरोधियों में से अनेक अन्त में संघटना के कार्य में शामिल होंगे। जिनकी नीयत साफ है वे सभी हमारे साथ आयेंगे। लेकिन शेतकरी संघटना से

जिन्हे वास्तव में ठेस लगी है वे हैं गांवों के नेतागण — खासकर सहकारी क्षेत्र के नेता, गांव पंचायतों, तालुका पंचायतों, जिला परिषदों, सहकारी संस्थाओं, कारखानों, बैंकों, बाजार समितियों के नेता और आगे चलकर विधायक, सांसद, मन्त्री पद आदि की आस रखने वाले, उसमें अनाप-शनाप पैसा कमाये नेता गण। किसान हमेशा कर्ज में डूबा हुआ, लाचार, उसकी छोटी-मोटी कठिनाइयों को दूर करने का आश्वासन देना, थोड़ी बहुत कठिनाइयां दूर करना और हमेशा के लिए कृतज्ञ बनाये रखना यही उनका धन्धा है। खेती के बाहर की आय अनाप-शनाप होने के कारण खेती उत्पादों को उचित कीमत मिलने की उन्हें पर्वा नहीं है। किसानों को उचित भाव मिलने पर नेताओं के भाव घट जाते हैं यह बात उनके समझ में आ गयी है।

खेती की बढ़ोत्तरी में नेताओं का दिवाला है इसलिए ये लोग चाहे जिस तरीके से संघटना का विरोध करने को तैयार खड़े हैं। विचारों से सहमति या विरोध से उनका लेना देना नहीं है। जात पात, पैसा, गुण्डे, पार्टीबाजी इन साधनों के प्रयोग से संघटना को दबाने के लिए ये कुल्हाड़ियां तैयार हैं। किसानों के सबसे बड़े विरोधी ये नेता हैं। इण्डिया वाले इन नेताओं का इस्तेमाल करके ही खेती उत्पादों को उचित मूल्य नहीं देते हैं।

गरीबी के मूल कारण को नजरअन्दाज कर गरीबी हटाने को जिन्होंने व्यवसाय बनाया वे सभी संघटना के खिलाफ खड़े हैं। लेकिन उनके पैर के नीचे की जमीन फिसल रही है। गरीबी हटाने का नाटक अब बहुत समय नहीं चलेगा। गरीबी बढ़ने से जैसे गोरे गये वैसे काले भी जायेंगे। लक्षण साफ है।

पूर्व प्रकाशन: मजदूर किसान नीति
१-१५ जुलाई १९८३

७.

कृषि मूल्य आयोग भंग करो — किसानों की मांग

नव-उपनिवेशवाद

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद की आर्थिक विकास की नीतियाँ मूल रूप से औद्योगिक विकास के लिये आवश्यक पूंजी अतिरिक्त कृषि उत्पादन से प्राप्त करने हेतु बनायी गयीं हैं। ये नीतियाँ इतनी बर्बरता से लागू की गयीं कि ३६ वर्षों में भारत दुनियाँ का ९ वाँ औद्योगिक राष्ट्र होने के साथ-साथ संसार का करीब करीब सबसे गरीब देश भी बना है।

ये नीतियाँ वास्तव में ब्रिटिश साम्राज्य की औपनिवेशिक नीतियों के ही क्रम में हैं। किसान आज भी ठीक उसी तरह शोषण किये जा रहे हैं। अन्तर सिर्फ इतना पड़ा है कि इसका लाभ साम्राज्यवादी राष्ट्र को न जाकर देश के अन्दर के ही कुछ चुने हुए स्थानों में जाता है। बहुत समझ बूझ के साथ अपनाएँ गये साधनों के द्वारा सरकार ने उद्योगपतियों को सस्ते दरों में कच्चा माल और श्रम शक्ति, जो गांवों से शहरों की ओर भारी संख्याओं में पलायन कर रहे बेरोजगारों की वजह से और जरूरी वस्तुओं (वेज गुड्स) के सस्ते होने के कारण सस्ती है, उपलब्ध कराया है। इसके लिये सरकार किसी भी तरकीब से बाज नहीं आयी है।

सारे अर्थ, मुद्रा, बजट, और राजस्व सम्बन्धी उपाय शासन के इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये काम में लाये गये हैं। मुख्य रूप से इसी नीतियों पर जोर दिया गया है जो कृषि उपजों के मूल्य ऐसे स्तर पर रखती हैं कि उनका वास्तविक उत्पादन खर्च भी पूरा नहीं होता है।

उपज की कमी के समय अलाभकारी दरों पर "लेवी" लेना, विपुलता के समय मूल्य नीचे गिरने से रोकने के लिये अत्यन्त अपर्याप्त मूल्य समर्थन के कदम उठाना, मुख्य कृषि उपजों का आंतरराष्ट्रीय बाजारों

से अत्यन्त उँचे दामों पर अनावश्यक आयात करना, विदेश से प्राप्त वस्तुओं (पी. एल्. ४८. अनाज, दुग्ध पाउडर, मखन का तेल, पाम आयल इत्यादि) की सहाय्यता से आन्तरिक बाजारों में उनके मूल्य गिराना, अतिरिक्त कृषि उत्पादन के बाद भी उनके निर्यात पर कड़े प्रतिबन्ध के साथ अनिश्चित और दुलमूल नीतियाँ अपनाना, रुपये का कृत्रिम अतिमूल्यन, ये सभी किसानों को वाजिब मूल्य न मिले इस हेतु सरकार द्वारा काम में लाये जानेवाले मुख्य हथियार हैं।

कृषि मूल्य आयोग (ए. पी. सी.) — एक धुये का पर्दा

कृषि मूल्य आयोग, जो जनवरी १९६५ में मूल्य निर्धारण के लिए एक वैज्ञानिक आधार तैय्यार करने हेतु स्थापित किया गया था, अपने पिछले १८ वर्षों के दरम्यान किसान का शोषण करने का एक महत्त्वपूर्ण तन्त्र बन गया है।

जब सरकार की सारी नीतियाँ कृषि को निचोड़ना इस लक्ष्य को लेकर बनाई गयीं हैं, यह मात्र स्वाभाविक है कि उसका एक अपेक्षतया कम महत्त्वपूर्ण अंग उस लक्ष्य की तरफ जाने के लिये स्वयं को बाध्य पाता है। ए. पी. सी. का काम बिल्कुल अवैज्ञानिक है। मंत्रालय में निर्णय की प्रक्रिया मात्र राजनैतिक अवसरवादिता पर आधारित है। सामान्यतः निर्धारित मूल्य फसल की कटाई के बाद खुले बाजार के मूल्यों से कम होते हैं और जब ऐसा नहीं होता सरकारी तन्त्र मूल्य समर्थन के लिये आवश्यक कदम उठाता नहीं। इस तरह ए. पी. सी. के मूल्यों का कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं रहता है बल्कि वे बाजार में कृषि उपजों के मूल्य किस स्तर तक ऊँचे उठाने दिये जायेंगे इसके सूचक मात्र हैं। इस तरह ए. पी. सी. सरकार की किसान विरोधी नीतियों के लिये एक धुये के पर्दे का काम करती है। अतः यह अत्यन्त आवश्यक हो गया है कि ए. पी. सी. के वर्तमान स्वरूप को समाप्त किया जाए और उसकी जगह एक नया आयोग स्थापित किया जाए।

धोखेभरी कार्यशर्तें

ए. पी. सी. इसलिये निष्प्रभावी है क्यों कि इसके जन्मदाताओं की इच्छा यही थी। आयोग के कार्य शर्तों को इस तरह निर्धारित किया गया था कि उसके ऊपर वे सभी जिम्मेदारियाँ लाद दी गई जिसे पूरा करने के उसके पास कोई साधन नहीं थे।

ए. पी. सी. का काम “कृषि उपजों की मूल्य नीति पर सलाह देना” रखा गया है। लेकिन मूल्य नीति और तुलनात्मक मूल्य ढाँचे की

सलाह देते समय ए. पी. सी. कई तथ्यों को ध्यान में रखें यह आवश्यक समझा गया है। उदाहरणार्थ — जमीन और उत्पादनकारी संसाधनों का विवेक पूर्ण उपयोग, नीति का अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों पर संभावित प्रभाव, खासकर रहन-सहन का खर्च (कॉस्ट आफ लिविंग), वेतन की दर, और औद्योगिक उत्पादन खर्च।

और यह सबकुछ “आर्थिक व्यवस्था की सम्पूर्ण आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए एक संतुलित और समग्र मूल्य ढाँचे के निर्माण हेतु और उत्पादक और उपभोक्ता के हितों पर पर्याप्त बल देते हुए” करना है।

ए. पी. सी. को ऐसी जिम्मेदारियों से लदी गयी है जो उसके नाजूक ढाँचे के लिए अत्यन्त भारी पड़ती है। साफ है की वह कोई ‘तुलनात्मक मूल्य ढाँचे’ की सलाह देने में सक्षम नहीं है। सुनने में भले ही प्रभावशाली लगे, परन्तु इस शब्दजाल का अर्थ क्या है? जब ए. पी. सी. गन्ने की कीमत की सलाह देती है, तो क्या उससे उम्मीद की जाती है कि वह उसके विभिन्न लागत वस्तुओं के कीमतों के बारे में भी सलाह दें? या वह गन्ने से तैयार की जानेवाली बहुसंख्यक वस्तुओं की कीमतें निर्धारित करें? या उससे यह आशा है कि वह इन वस्तुओं के बदले में इस्तेमाल की जानेवाली अन्य उत्पादनों या चीनी आदि के पूरक वस्तुओं की कीमत निर्धारित करें? बात समझ में नहीं आती। ए. पी. सी. ने बुद्धिमानी के साथ ऐसी किसी भी कोशिश से अपने को अलग रखा है।

इतना ही नहीं, क्या ए. पी. सी. मूल्य निर्धारण के माध्यम से विभिन्न फसलों के बीच जमीन का बंटवारा कैसे हो, और मशीनरी, खाद कीटाणूनाशक दवा आदि का भी बँटवारा कैसे हो इसपर अपनी सलाह देने वाली है? मूल्यनिर्धारण में ध्यान देने योग्य बातों में रहन सहन का स्तर, वेतन, औद्योगिक खर्च आदि प्रभाव को शामिल करने का मतलब क्या है? अर्थव्यवस्था की सम्पूर्ण आवश्यकताओं और संतुलित मूल्य ढाँचे के बारे में ए. पी. सी. की क्या जानकारी है? ये सब बातें उससे उँचे स्तर की समितियों में तय की जाती हैं या तय की जानी चाहिए। उदाहरणार्थ, योजना, वित्त, कृषि और व्यापार मंत्रालयों में और योजना आयोग और रिजर्व बैंक में। अपने शैक्षिक और व्यावहारिक और व्यावसायिक जीवन में जो कुछ सीखा है उसे छोड़कर दयनीय ए. पी. सी. के बेचारे सदस्य इन सब बातों के बारे में क्या जानते हैं?

अगर ए. पी. सी. को राष्ट्रीय महत्त्व के ऐसे पेचीदे सवालों को ध्यान में रखते हुए कार्य करना है तो स्पष्ट है, यह उसकी एकतर्फी

जिम्मेदारी नहीं हो सकती है। इसके लिये आवश्यक है की इन सवालों से सम्बन्धित सारे मंत्रालय और संस्थाएं अपने लक्ष्यों, योजनाओं और कार्यों का विवरण ए. पी. सी. को देते रहें। क्या ए. पी. सी. के पूरे १८ साल के कार्यकाल में ऐसा एक बार भी किया गया है? साफ है की मूल्य निर्धारण में अतिरिक्त मापदण्डों का बोझ अनावश्यक है। आवश्यकता इस बात की है की ए. पी. सी. को इन प्रतिकूल जिम्मेदारियों से मुक्त किया जाय और विभिन्न फसलों के उत्पादन खर्च की वैज्ञानिक आधार पर गणना करने की संस्था के रूप में उसे कार्य करने बाध्य किया जाय। कृषि मूल्य आयोग (ए. पी. सी. एग्रीकल्चरल प्राइसेस कमीशन) के स्थान पर कृषि लागत आयोग (ए. सी. सी. एग्रीकल्चरल कोस्टस् कमीशन) की स्थापना करने की आवश्यकता है। मूल्यों के सम्बन्ध में निर्णय आन्तरमन्त्रालय स्तर पर लिया जा सकता है, जहाँ “श्रेष्ठ तकनीकी अपनाने और उत्पादन बढ़ाने हेतु उत्पादक को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता” पर पर्याप्त बल, मूल्य ढांचा, वेतन की दर, औद्योगिक उत्पादन खर्च, अर्थव्यवस्था की सम्पूर्ण आवश्यकतायें आदि पर मूल्य का प्रभाव आदि बाते मद्धेनजर रखी जाएगी, लेकिन इस ढंग से कि समर्थन मूल्य वास्तविक लागत खर्च से भी कम न हो पावे।

ए. पी. सी. की कार्यपद्धति

ए. पी. सी. का लागत मूल्य तय करने का वास्तविक तरीका रहस्यपूर्ण रखा गया है। इस वजह से उसकी कार्यपद्धती में सुधार लाने के लिये ठीक ठीक सलाह देने में कठिनाई होती है। परन्तु कुछ स्पष्ट खामियों को अतिशीघ्र दूर करने की आवश्यकता है।

ए. पी. सी. उसको दिये गये उत्पादन खर्च सम्बन्धी आकड़ों का अध्ययन करता है और उसके बाद प्रतिहेक्टर उत्पादन खर्च की गणना करता है। लेकिन जिन खेतों के आधार पर इसकी गणना की जाती, वे ज्यादातर क्षमता से कम उपजानेवाले होते हैं। ऐसे खेतों के आधार पर निर्धारित औसत खर्च किसी आन्तरिक रूप से तर्कसंगत पूर्णता के रूप में प्रतिपादित नहीं किये जा सकते हैं न ही वे कोई वास्तविक खेत में दर्शाये जा सकते हैं। अगर ७००० हेक्टर क्षेत्रफलों के खेतों में से केवल ५०० हेक्टर क्षेत्र फल खेतों में ही कीटक नाशकों का उपयोग किया गया हो तो ५०० हेक्टर भूमि में लगाये गए कीटकनाशक की कीमत ७००० हेक्टर से भाग देने से प्राप्त कीटकनाशक का औसत खर्च गलत होगा। इस तरह से यांत्रिक रूप से निकाले गये औसत खर्चों के आधार पर तय मूल्य विकसित

तकनीकी और उच्चस्तर उत्पादकता को प्रोत्साहन नहीं देंगे। यह कठिनाई यूरोप के कुछ देशों में संश्लेषक (सिंथेटिक) पद्धति के माध्यम से दूर की गयी है। इस पद्धति में आन्तरिक रूप से तर्कसंगत और समग्र एक नमुना (माडल) तैयार किया जाता है। जो संकलित आंकड़ों के चुनावपूर्ण प्रयोग पर आधारित होता है। लागत वस्तुओं की मात्रा और उत्पादन क्षमता सम्बन्धी आंकड़ों को समय-समय पर देश की नीति के अनुरूप बदल दिया जाता है।

ए. पी. सी. की गणनायें कई मामले में अपूर्ण हैं। खर्च के कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों को स्पष्ट रूप से जोड़ा नहीं जाता। कहा जाता है की ए. पी. सी. लागत वस्तुओं को जुटाने में खर्च, कृषि उपकरणों की मरम्मत का खर्च, खेत से खरीदी केन्द्र, मण्डी या मिल तक उपजों को ले जाने का खर्च आदि जोड़ता नहीं है (राव विरेन्द्र सिंह, इन्डियन सोसाइटी आफ एग्रीकल्चरल स्टैटिस्टिक्स के ३५ वें अधिवेशन, नई दिल्ली में २८ दिसम्बर ८१ को दिये गये भाषण।)

ए. पी. सी. अप्रत्याशित कारणों से होनेवाली फसल की हानी (रिस्क फॅक्टर) (राव विरेन्द्र सिंह उसी भाषण से) और संचालन (मैनेजमेंट) खर्च (राष्ट्रीय कृषि आयोग १९७६) अनदेखा करता है। जमीन के कीमत के बारे में जो आकड़े लिये जाते हैं वे राजस्व रिकार्डों पर आधारित हैं। हालांकि यह आकड़े कानून की दृष्टि में सही बताये जा सकते हैं परन्तु वास्तव में इसके द्वारा पूंजी की लागत कम आँकी जाती है।

ए. पी. सी. की रपटों से यह साफ जाहिर होता है कि पानी के संसाधनों का विकास और निर्माण कार्य पर खर्च और घिसाई, पुराना हो जाना, मूल्यों में उतार चढ़ाव, शोध और विकास कार्य आदि के लिये अलग से राशि आवश्यकतानुसार जुटाने का खर्च जोड़ा नहीं जाता है।

ए. पी. सी. की गणनाओं में श्रम पर खर्च स्थायी श्रमिकों को दी जानेवाली मजदूरी की दरों पर आधारित है। अतः मजदूरी की ये दर कानून द्वारा निर्धारित न्यूनतम मजदूरी की दरों से भी काफी कम हैं। चूंकि श्रम पर खर्च की गणना मानव-दिनों के आधार पर की जाती है, यह तर्कसंगत नहीं है कि दैनिक मजदूरी की दर स्थायी श्रमिक के वार्षिक वेतन के आधार पर निर्धारित की जाय।

मूल्यों की व्यावहारिकता

नये ए. पी. सी. (कृषि लागत आयोग) को लागत की गणना में होने वाले सभी दोषों को दूर करना होगा, विशेषकर उनको जिनका वर्णन

ऊपर दिया हुआ है। उसे नमूने के तौर पर पूरे देश में कई फार्म (खेत) तैयार करने होंगे जहाँ यह सिद्ध किया जा सकेगा कि आयोग द्वारा निर्धारित लागत में विभिन्न फसल की खेती की जा सकती है। उसे अपनी कागजी बुद्धि के आधार पर किसानों के हितों के साथ खिलवाड़ करने नहीं दिया जा सकता है, जैसा कि पिछले १८ वर्षों में किया गया था।

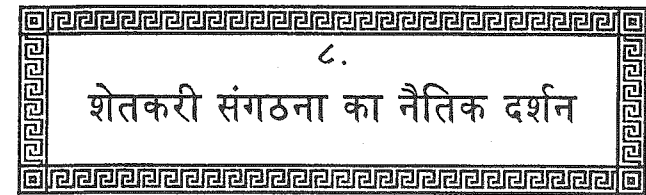
अभी (१९८१) तक राज्य सरकारों को केन्द्र सरकार द्वारा निर्धारित मूल्यों में कुछ बढ़ोतरी करने की छूट थी। कृषि उत्पादकता की क्षेत्रीय भिन्नताओं को देखते हुए यह नीति तर्कपूर्ण थी। यहाँ तक राष्ट्रीय कृषि आयोग (१९७६) ने भी मूल्यों के इस लचीलापन का समर्थन दिया था, बशर्ते मूल्यों में जो अन्तर होंगे वह कम उत्पादन खर्च वाले स्थानों से दूसरे स्थानों तक के परिवहन खर्च से अधिक नहीं हों। यह सुविधा अचानक १९८१ में रोक दी गयी। अब इसे फिर से लागू करना चाहिए।

चूँकि अभाव के समय सरकार अनिवार्य रूप से “लेवी” जमा करती है, यह बल्कि स्वाभाविक है की अन्य समयों में समर्थन मूल्यों में खरीदने का दायित्व भी सरकार पर हों। अगर सरकारी खरीदी तंत्र के अभाव के कारण समर्थन मूल्यों के कम दरों पर अपनी उपज बेचना पड़े तो सरकार के उपर औपचारिक बाध्यता होनी होगी कि वह समर्थन मूल्य और प्राप्त मूल्य के बीच का अन्तर किसान को उपलब्ध करावें।

उपसंहार

किसानों के हित में यह आवश्यक है कि वर्तमान कृषि मूल्य आयोग (ए. पी. सी.) भंग किया जाय और उसके स्थान पर एक अपेक्षित मर्यादित लेकिन व्यावहारिक कृषि लागत आयोग (ए. सी. सी.) की स्थापना की जाय। मात्र इससे किसानविरोधी नीतियों का अन्त नहीं होगा, परन्तु ऐसी नीतियों पर परदा डालना ज्यादा कठिन बन जायेगा।

पूर्वप्रकाशन : मजदूर किसान नीति
१-३१ दिसंबर १९८३



८.

शेतकरी संगठना का नैतिक दर्शन

नैतिक दर्शन का अभाव?

कृषि उत्पादों के लिये वाजिब दाम यह किसान संगठन का एक सूत्रीय कार्यक्रम है। उत्पादन वृद्धि, औद्योगीकरण आदि द्वारा मानवीय जीवन की स्वतन्त्रता की कोटियाँ बढ़ती हैं। लेकिन आज तक औद्योगीकरण, चाहे वह पूँजीवादी व्यवस्था में, या समाजवादी व्यवस्था में, कृषि क्षेत्र के शोषण द्वारा प्राप्त पूँजी से ही किया गया है। इसी कारण औद्योगीकरण के लाभ केवल कुछ गुटों को ही मिले। विकास की चाल धीमी रह गई। आर्थिक विषमता बढ़ती गयी और प्राकृतिक व सामाजिक प्रदूषण का भयानक प्रश्न खड़ा हुआ। यह दुष्परिणाम औद्योगीकरण के नहीं हैं बल्कि औद्योगीकरण के लिये आवश्यक पूँजी निर्माण की उलटी प्रक्रिया के हैं। पूँजीनिर्माण की प्राकृतिक प्रक्रिया द्वारा स्वस्थ औद्योगिक समाज का निर्माण हो सकता है। उस समाज की अपनी समस्याएं होगी लेकिन अभी जो सवाल सामने दिख रहे हैं उनका हल 'कृषि उत्पादों के लिये वाजिब दाम' इसी कार्यक्रम में है। यही विचार शेतकरी संगठना ने रखा है।

यह एक पूरी विचार पद्धति है। लेकिन काफी लोगों का कहना है की यह अधूरी है। इन लोगों को यह डर है कि किसानों के स्वार्थ को आधार बनाकर खड़ा हुआ यह आंदोलन कर्तव्य भावना को हिला देगा, नैतिकता को धक्का देगा। इनके विचार में किसान आंदोलन के द्वारा जिस नये समाज का निर्माण होगा उसका कुछ साफ चित्र बनाना जरूरी है। संगठना की विचार पद्धति में निहित नैतिकता की जांच पड़ताल होनी होगी।

नैतिकता क्या चीज है? उसकी राह कौनसी है? गांधी जी से एक बार किसी ने पूछा कि, शांति की राह कौनसी है? गांधी जी ने कहा कि, “शांति की राह नहीं है, शांति ही राह है”। उसी तरह नैतिकता कोई

का गुणगान करते हैं। व्यवहार में स्वार्थ का प्रदर्शन करते व मुख से परार्थ जोर देते हैं जब कि भगवान पर श्रद्धा रखनेवाले खुले विकास की महत्ता स्वयंभू माननेवाले मार्क्सवादी अर्थव्यवस्था के नियोजन की आवश्यकता पर विपरीत होती है यह अनुभव है। उदाहरणार्थ, दुनियाँ की उत्कृष्टि की में तथा राजमर की जिंदगी के बारे में लोगों के विचार या धारणाएँ एकदम राजमर की जिंदगी से प्रत्यक्ष तौर पर संबंध न रखनेवाली व्यवस्था के बारे में मिश्रित हैं। परहित की महत्त्व मिलने का एक और कारण हो सकता है। इस सिद्धांत के अनुसार ही शापद परहितार्थ व्यवहार की अत्यधिक महत्त्व जो चीज दुर्लभ होती उसकी कीमत अधिक होती है। अर्थशास्त्र के सहज प्रवृत्ति है लेकिन सन्तो ने हमेशा इसे छोटाना सिखाया है।

सन्तो ने हमेशा विरक्ति, गरीबी का गुणगान किया है। स्वार्थ एक उदाहरण और इसी लिए नैतिक माने जाते रहे हैं। नैतिकता है। गरीबों को दान, धर्मार्थ अस्पताल, पाठशाला आदि उदारता के स्तुति गीत हमेशा गाये जाते हैं। स्वार्थ एक पाषाण प्रवृत्ति है परसेवा जाति के लिये, धर्म के लिये, देश के लिये स्वार्थ त्याग किया इस किस्म के तो मर गये' इस किस्म कि कहावतें हमेशा इस्तेमाल की गयी हैं। फलाने ने में माना गया है। 'दूसरों के लिये जिये तो अमर हो गये, खुद के लिये जिये को त्याग कर दूसरे का भला करना एक अच्छी बात है इसे अधिकांश युगों फिर भी अधिकांश समाजों के नैतिक मूल्यों में समानता है। स्वार्थ

के साथ साथ नैतिक मूल्य बदलते हैं। से प्रस्त समाज के नियमों से भिन्न होना स्वाभाविक है। अर्थव्यवस्था बदलने नैतिक धारणाएँ होती हैं। स्थिर समाज के नियम युद्ध, विद्रोह आदि हादसों भिन्न होते हैं। निजी संपत्ति पर आधारित समाज की अपनी अलग अलग नजर आती है। कृषि प्रधान समाज के नैतिक मूल्य औद्योगिक समाज से को मिलती हैं। अर्थव्यवस्था के विकास के साथ नीति व्यवस्था भी बदलती पूर्वजगृजा से लेकर व्यक्ति स्वतंत्रता तक नैतिकता की अनेक छटाएँ देखने मिलते हैं। वर्णश्रमधर्म से लेकर मोहम्मद की सामाजिक व्यवस्था तक, लेकर प्रौद्योगिक स्वराचार तक सभी प्रकार के नीति नियम इतिहास में नियम, कानून मिलते हैं। स्त्रीसत्ता से लेकर स्त्रीदासता तक, ब्रह्मचर्य से आचार-विचार के बारे में हर समाज में कुछ संकल, रूढ़ी, धर्मशास्त्र, बदलती हुई नजर आती है। इंसान के आर्थिक व्यवहार व तदनुसृत नैतिक नैतिकता की धारणाएँ विभिन्न समाजों में विभिन्न समय पर विशेष अवस्था नहीं है, उसकी कोई राह नहीं है। नैतिकता ही राह है।

परार्थ का सही मतलब समझकर समुची मानवजाती की मानसिक वासना से मुक्त करना आवश्यक है। खाना-पिना, देखना, उष्योग करना सांख्यिकीय संबंध को नकारा नहीं जा सकता है। परार्थ आपक स्वार्थ ही है। संपन्नता में दुष्टता भी अनेक बार देखने को मिलती है। लेकिन उस कारण आर्थिक तौर पर कमजोर लोगों में परार्थ की भावना, तथा परार्थ की नैतिकता में निहित ही सांख्यिकीय संबंध है।

जन्म की चिन्ता भी की जा सकती है। आर्थिक स्थिरता की भावना तथा स्वार्थ को एक तरफ छोड़ सकता है। यदि सभी कुछ ठीक है तो अगले पुरस्तर है बही दूर का विचार कर दूरगामी फायदों के लिए आज के है। जिसके सामने आज की समस्या नहीं है, कल के बारे में सोचने की कहना इसकी चिन्ता नहीं है ऐसे लोगों में नंगा स्वार्थ तत्काल जन्म लेता है। जिनके सामने आज एक समस्या है, कल की आशा नहीं है, कौन क्या होता है। और कुछ समय के लिए विचार बदल जाते हैं। यह कुछ ऐसा ही व्यापकता की तुलना में खुद की आशा-आकांक्षाओं की क्षुद्रता का एहसास स्वार्थ से दूर रह सकता है। पर्वत की चोटी से नीचे देखने पर दुनियाँ की इंसान भविष्य में जितना दूर तक देख सकता है उतना ही नंगे के व्यवहार में फकी था।

दिल्ली में ऐसी कोई आशा नहीं होती थी, इसलिये बंबई व दिल्ली के लोगों एक बस न मिली, तो दुसरी नहीं तो तीसरी मिलना लगभग तय था। है कि दिल्ली के लोग कम नैतिक हैं। बंबई की बस व्यवस्था ऐसी थी कि बहिर्भाव अनुशासनहीनता का प्रदर्शन करते थे। इसका यह अर्थ कदापि नहीं का इंतजार करते थे। उन्ही दिनों दिल्ली के लोग बस में बैठने के लिये रहते थे। एक बस में यदि उन्हें जगह नहीं मिलती थी तो शांति से दूसरे एक जमाना था जब बंबई के लोग बस के लिये लड़ने में खड़े

स्थिरता एवम् नैतिकता

स्वीकारने की तैयार किया जो स्वार्थ से परे हो। जस्त, खाने के लिये दर दर भटक रहे समाज की संतो ने ऐसे उद्देश्य इसके बावजूद यह भी मानना होगा कि आक्रमण, युद्ध आदि की वजह से में रह रहे किसी सुलतान की संत वचनों ने बंधन में बांधा हो। लेकिन काम आये हो। इतिहास में ऐसे उदाहरण कम ही हैं जहाँ सत्ता के पूरे जोषा दुनियाँ में प्रभुत्व हासिल किया तब-तब संत वचन शापद ही दुर्बलों के का गुणगान किया जाता हो। बलवानों ने जब-जब ताकत के बल पर की प्रशंसा मनःशान्ति के लिये अच्छा मानते हैं। इसलिये भी शापद परार्थ

यह सब प्राकृतिक इच्छाएँ हैं। यदि इन इच्छाओं की यथायोग्य पूर्ति होती है अन्य लोगों के साथ इन्हे बांटने में भी मजा आने लगता है। गांव के साथ जिंदगी बिताने में आनंद मिल सकता है। देश के लिए जान देने की इच्छा पैदा हो सकती है। उसमें भी अपार आनंद का अनुभव हो सकता है।

जब कोई यह कहता है की केवल दूसरे की भलाई के लिए वह प्रचण्ड दुःख — दर्द सह कर कोई कार्य कर रहा है तो मेरे दिल में डर की घंटियां बजने लगती हैं। ऐसा कहने वाला व्यक्ति स्वस्थ दिल नहीं रखता, उसमें जरूर कुछ छुपाने की प्रवृत्ति है, जरूर कोई न कोई क्षुद्र स्वार्थ दबा हुआ है। यह कहने में शर्म क्यों आनी चाहिए कि मैं कोई कार्य खुद के सुख के लिए कर रहा हूँ। परार्थ की बात करने वाले अक्सर क्षुद्र स्वार्थरत होते हैं। इससे बेहेतर यह है की स्वार्थी बनो, जितने व्यापक अर्थों में, जितने मार्गों से, जिन्दगी परिपूर्ण बनायी जा सकती उसे बनाओ। दूसरों के हकों को कुचलना छोड़ दो — परार्थ की दृष्टि से नहीं, केवल अपनी जिन्दगी को और अधिक परिपूर्ण बनाने के लिए। यही शिक्षा ठीक है। यही सच्ची नैतिकता होगी।

कर्तव्य और अधिकार की विभिन्नता भी इसी तरह काल्पनिक है। अधिकारों की मांग करते वक्त कर्तव्यों को नहीं भूलना चाहिए यह बात बेमतलब है। कर्तव्य और अधिकार में क्या वास्तव में कोई फर्क है? जो खुद के हक में है वह कर्तव्य के खिलाफ कैसे हो सकता है? हर बड़ी-चढ़ी मांग और बढ़ाये गये अधिकार शुरू में ही कर्तव्यच्युत होते हैं। दूसरों के हकों को संकुचित करनेवाले होते हैं।

आदर्श समाज का स्वप्नरंजन

शेतकरी संगठना आदर्श समाज की कोई कल्पना पेश नहीं करता। स्वतन्त्रता की कोटियाँ बढ़ाने की राह दिखाता है लेकिन इस राह पर चलते हुए कहाँ पहुँचना है ये भी नहीं कहता। नैतिकता किसी व्यवस्था विशेष में नहीं बल्कि राह चलने में है यह यदि मान लिया जाए तो आदर्श समाज की कल्पना ही अर्थहीन हो जाती है। आदर्श समाज का चित्र पेश करनेवाली विचार पद्धतियों में मार्क्स और गांधी का उदाहरण ले। उनकी स्वप्नसृष्टि का क्या हुआ यह देखने लायक है।

२० वीं सदी का मजदूर आंदोलन मूल तौर पर मार्क्स के विचार के आधार पर खड़ा हुआ है। भौतिकवाद, विपरित उत्पादन संबंध, निजी सम्पत्ती, अतिरिक्त मूल्य, मजदूरों का शोषण, वर्ग संघर्ष व उसके पूंजीवाद का विनाश तथा समाजवादी वर्ग रहित, शोषणरहित समाज की रचना और

इस तरह मनुष्य के मन की मुक्ति इस विश्वव्यापी छोटे से तर्कशास्त्र के आधार पर समाजवाद को बांधा गया। दुनिया के मजदूरों को एक करने का स्वप्न देखते हुए पूरी दुनिया में मजदूर आंदोलन खड़े हुए। हमारे देश में भी अनेकों ने इस आंदोलन में बलिदान किया। मजदूरी, बोनस, नौकरी की शर्तें आदि अनेक मुद्दों में मजदूरों को फायदा भी मिला। लेकिन मार्क्सवादी दर्शन के प्रति निष्ठा तैयार नहीं हो पायी।

“मजदूर नेता” एक व्यवसाय बन गया। सर्वहारा की क्रांति द्वारा सम्पूर्ण मानव जाति की मुक्ति का स्वप्न देखने वाले कार्यकर्ताओं को छोड़कर जो पांच-दस रुपये ज्यादा दिलवा सका उसी नेता के पीछे मजदूर भागने लगे। यह हकीकत है। जिन देशों में तथाकथित मार्क्सवादी सत्ता में आये वहाँ भी कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं आए, जो परिवर्तन हुए उन्हे पूंजीवादी व्यवस्था का नया अवतार कहा जा सकता है। ऐसा क्यों हुआ? मार्क्स नैतिक सवालों पर मौन रहे। मजदूरों का शोषण बन्द करो, उपयोग मूल्य तथा विनिमय मूल्य की खाई दूर करो इस तरह की केवल ‘मांग बहादूर’ की भूमिका उनकी नहीं थी। फिर भी उनके आंदोलन की नैतिक परिणती उनके विचारों के अनकूल नहीं रही। अर्थव्यवस्था के परिवर्तन से अपेक्षित समाज परिवर्तन नहीं हुआ।

नैतिकता के आधार पर अर्थव्यवस्था बनाने का विचार रखने वाले गांधी जी की शोकांतिका इससे भी भयानक है। गांधी जी के चेलों ने उनके साथ जो विश्वासघात किया उतना दुनिया के इतिहास में शायद ही किसी युगपुरुष के साथ हुआ है। गांधीवादी अर्थव्यवस्था के एकदम विपरित अर्थव्यवस्था को बनाने का काम उनके परमशिष्यों ने किया। उनके शिष्यों ने ही गांधीवादी नैतिकता को बलि चढ़ाया। गांधी जी के विचारों में नैतिकता कहीं कमजोर नहीं थी लेकिन फिर भी समाज पर उनका कहीं कोई असर नहीं हुआ।

इन महान जगतप्रसिद्ध चिंतक लोकनेताओं के दर्शन की शोकांतिका हमें विचार करने के लिए बाध्य करती है।

स्वप्नों की वास्तविकता

पहला प्रश्न यह है कि इन लोकनेताओं ने आदर्श समाज के जो स्वप्न देखे वे कहाँ तक योग्य थे? तत्कालीन समाज की समस्याओं का सही-सही विश्लेषण इन नेताओं ने किया। उन दोषों के दूर होते आदर्श समाज का निर्माण होगा ऐसा मनमोहक चित्र हर ‘पैगंबर’ ने प्रस्तुत किया। अस्तू-अफलातून (अरिस्टटल-प्लेटो) से लेकर क्रोपोटकीन, मार्क्स, गांधी

तक सभी ने एक आदर्श समाज का मनोहारी चित्र लोगों के सामने रखा।

अतिरिक्त मूल्य का विश्लेषण मार्क्स ने किया। केवल इतने आधार पर मजदूर वर्ग की क्रांति और वर्ग विहीन समाज की रचना का स्वप्न देखना मार्क्स जैसे प्रकाण्ड विद्वान व्यक्ति को कैसे योग्य लगा? अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रम्हचर्य एवम् अपरिग्रह इन आदर्शों पर पूरा समाज खड़ा होगा यह कल्पना कहाँ तक वास्तविक है?

हर छायाचित्र का एक केन्द्र बिन्दु होता है। उस बिन्दु में प्रतिमा पूर्ण तौर पर स्पष्ट दिखाई देती है। उस बिन्दु से जितना दूर जाते हैं प्रतिमा की स्पष्टता, उसके गुण उतने ही कम होते जाते हैं। हर छोटे-बड़े चित्रक के विचारों में भी यही है। कुछ केन्द्र बिन्दुओं में उन्हे उनकी परिस्थिति व काल के अनुरूप सही हल का दर्शन होता है। बुद्धि की कसौटी पर उतरने वाले विचारों तक ही अपने को सीमित रखना महान से महान लोगों से भी नहीं बना है। कुछ सत्यकणों की खोज के आधार पर पूरी दुनिया को बाँधने का मोह बड़ों को हुआ है। दुनिया को बाँधने के प्रयास में उन्होंने खुद की पराजय की अनजाने ही नींव डाली।

मटके का दूध बेचूँगा, उस पैसे से बकरी खरीदूँगा, फिर बकरियों का झुण्ड होगा, उन्हे बेचकर गायें खरीदूँगा, उनकी संख्या बढ़ेगी तो अमीर बनूँगा, फिर राजकुमारी से शादी होगी, एक दिन उससे गुस्सा होकर उसे लात मारूँगा इस तरह के दिवास्वप्न देखकर मटके को लात मारने वाले बच्चे की तरह ही बड़ों-बड़ों के हाल हुए दिखाई देते हैं।

अपने विचारों का भविष्य पर क्या परिणाम होगा इसका चित्र खींचते समय बुद्धिनिष्ठ तर्कशास्त्र को छोड़ने का मोह उन्हें क्यों हुआ? क्या आसपास के पंडितों की बौद्धिक आलोचना बन्द करने के लिए ऐसा किया जाता रहा? अनुयायियों को एक विशाल दर्शन देकर सर्वसंग परित्याग करने को प्रेरित करने के लिए ऐसा किया गया? स्वप्न बेचने का काम उन्होंने क्यों किया यह कहना कठिन है।

निर्दोष अवस्था असम्भव

आदर्श, सुखी, शांतिपूर्ण समाज यह कल्पना मूलतः हास्यास्पद है। मनुष्यप्राणी पूर्णतः सुखी हो नहीं सकता। यदि किसी समय वह पूर्ण सुखी हुआ भी तो शायद उसी का उसे दुःख होगा। समाज एक दोषपूर्ण अवस्था से दूसरी दोषपूर्ण अवस्था की ओर बढ़ता है। जब पुरोने दोष समाज के विकास में बाधा बनते हैं तो उन्हे दूर किया जाता है। इन प्रयासों को वाचा देने की आवश्यकता होती है, तत्कालीन पैगम्बर यही काम करते हैं।

एक दर्शन की आवश्यकता

फिर सवाल यह पैदा होता है कि किसी भी समाज परिवर्तन में महान लोगों की भूमिका क्या होती है? 'पैगंबरों' के विचारों के आधार पर समाज परिवर्तन होता है यह कल्पना भी भ्रामक है। रूसो, वाल्टेयर के विचार से फ्रांसिसी राज्यक्रांति नहीं हुई, मार्क्स की वजह से रूसी क्रांति नहीं हुई, गांधीवाद के कारण भारत का आजादी का संग्राम नहीं हुआ। समाज परिवर्तन की दिशा निर्धारित करता है, मार्गक्रमण करता रहता है। मार्गक्रमण का समर्थन करनेवाला विचार ढूँढा जाता है। रेगिस्तान के फिरस्तू गुटों के लिए इस्लाम का दर्शन सुविधाजनक था। एक जमाने में पूरे यूरोप पर प्रभुत्व रखने वाले लेकिन औद्योगीकरण के पीछे पड़े रूस के लिए समाजवादी विचार सुविधाजनक था। अंग्रजों को हराकर उनकी जगह लेने की आकांक्षा रखने वाले भारतीय पूँजीवादी वर्ग के लिए गांधीवाद सुविधाजनक था। आर्थिक आवश्यकतायें अनुकूल दर्शन को चुनती हैं। दार्शनिक आर्थिक व्यवस्था को गतिशील बनाते हैं।

रूस में मार्क्सवाद की पराजय हुई यह कहना गलत है। गांधीवाद भी भारत में हारा नहीं। इन विचारों का प्रयोग रूस या भारत में हुआ यह कहना गलत है। इन देशों में जो हुआ उसे एक सुविधाजनक साइन बोर्ड लगा दिया गया है। "सुभाष हेयर कटिंग सलून" का सुभाषचन्द्र बोस से जितना सम्बन्ध है उतना ही इन देशों की घटनाओं का मार्क्स व गांधी से सम्बन्ध है।

मार्क्स को जो सत्यकण हाथ लगे वे स्थलकाल तक सीमित थे। अतिरिक्त मूल्य का प्रमुख स्रोत मजदूरों के शोषण में नहीं वरन् तीसरी दुनियाँ के शोषण में निहित है यह बात मार्क्स समझ नहीं रहे थे ऐसा नहीं था। साम्राज्यवाद के आर्थिक परिणामों का विस्तृत वर्णन उन्होंने किया है। रोजा लक्जेंमबर्ग को पूँजी निर्माण की प्रक्रिया में तीसरी दुनियाँ के शोषण का महत्त्व अच्छी तरह से समझ में आया था। मार्क्स को भी वह साफ तौर पर नजर आया होगा। लेकिन १८४८ के आंदोलन के बाद केवल मजदूर ही क्रांति करेंगे यह भावना दृढ़ हो गई थी। उस मजदूरवर्ग को यदि क्रांति के लिए प्रेरित करना है तो उसी के शोषण को आधार बनाकर अर्थशास्त्र का निर्माण करना होगा। किसी भी व्यवस्था की उत्पत्ति, स्थिति और गति की समीक्षा करने वाले मार्क्स को ही वर्गविहीन परिपूर्ण समाज का स्वप्नरंजन तैयार करना पड़ा। यह स्वप्न वास्तविक तौर पर साकार होने की संभावना नहीं थी। इतिहास मार्क्स पर मेहरनजर क्यों कर करता?

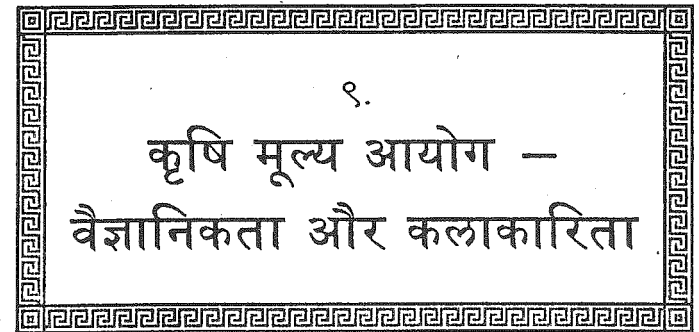
भारतीय आजादी के आंदोलन के गांधी जी सेनापति थे। आर्थिक तौर पर कमजोर निहत्थे, असंगठित लोगों के बलशाली अंग्रेज समाज के खिलाफ खड़ा करने का प्रचण्ड कार्य उन्होंने हाथ में लिया था। चंपारण, बारदोली आदि के अनुभवों के बाद अछूत खेत मजदूरों, ग्रामीणों को आंदोलन में शामिल करने की आवश्यकता को पहचानने वाला चौरी-चौरा से 'करेंगे या मरेंगे' तक पहुँचने वाला यह रणधुरंधर पारम्परिक नीति कल्पनाओं का इस्तेमाल आंदोलन के लिए नित नवीन सेना व दौवपेंच तैयार करने के लिए कर रहा था। इसमें से पारंपारिक नैतिक मूल्यों पर आधारित समाज का निर्माण होगा यह यदि गाँधीजी की अपेक्षा होती तो वे खुले तौर पर आधुनिकीकरण के पक्षधर नेहरु जी को सत्ता का नेतृत्व देते या नहीं इसमें शंका है।

बड़े चिंतकों के स्वप्न रंजन की परिपूर्ति न होने से आरामकुर्सी में बैठे विद्वानों को चाहे दुःख हो सकता है लेकिन कालपुरुष को चिंता नहीं है।

नैतिकता ही मार्ग है

शेतकरी संगठना की विचार दृष्टि बुद्धिवादी तर्क कठोर है। औद्योगिक व्यवस्था की आर्थिक सामाजिक समस्याओं के कारण विकास का, स्वतन्त्रता की कोटियाँ बढ़ाने का मार्ग कुंठित हुआ है क्या? क्या अब फिर से उलटी दिशा में चलना होगा? इन सवालों से त्रस्त मानवजाति को संघटना केवल आर्थिक बाधाओं से मुक्त होने का रास्ता दिखाती है। उर्जा, प्राकृतिक साधन सम्पत्ति की कमी के सवाल को इन्सान अपने दुर्दम्य बुद्धिसामर्थ्य के आधार पर यथावकाश विजय पा लेगा। सूरज गिरने को हुआ तो उसके स्थान पर मानव निर्मित सूरज रखने तक भी शायद मानवी दिमाग छल्लाँग लगायेगी। परार्थ की झूठी नैतिकता और उसके साथ पनपने वाले संकुचित स्वार्थ से मानव को खुद को बचाना होगा।

पूर्वप्रकाशन: मजदूर किसान नीति
१-३० अप्रैल १९८४



“कृषि मूल्य आयोग वैज्ञानिक एवं अर्थशास्त्रीय तरीके से काम करता है” — राव बीरेन्द्र सिंह, कृषि मन्त्री, लोक सभा में, दिनांक ९ मई १९८४ (प्र. द्र.)। यदि राव बीरेन्द्र सिंह अस्तित्व में नहीं होते तो नया किसान आन्दोलन उनका आविष्कार करने के लिए मजबूर होता।

गैर राजनैतिक किसान संगठनों की आन्तरराज्य समन्वय समिति इसकी मांग करती आई है कि वर्तमान कृषि मूल्य आयोग भंग किया जाय और उसकी जगह एक कृषि लागत खर्च आयोग गठित किया जाय। कृषि मूल्य आयोग के काम के तौर तरीकों के प्रति असंतोष सर्वव्यापी है। समन्वय समिति ने यह दिखलाया था कि समस्या उसके सदस्यों के साथ नहीं है। वे सम्माननीय व्यक्ति रहे हैं, कुछ अपवादों को छोड़कर जब राजनीतिज्ञों को उसमें जगह दी गई थी। लेकिन कृषि मूल्य आयोग का निर्माण ही सरकार की किसान विरोधी नीतियों को छिपाने के एक घुएँ के पर्दे (स्मोक स्क्रीन) के रूप में हुआ था। समन्वय समिति ने एक वैकल्पिक तन्त्र की एक मोटी अवधारणा सामने रखी थी।

किसान संगठनों की मांग

समिति ने किसानों को आवाहन किया वे अनाजों का उत्पादन कम करना, उत्पादन को बाजार में लाने से रोकना इत्यादि कार्यक्रमों के जरिये कृषि मूल्य आयोग को भंग करने की मांग के समर्थन में आन्दोलन करें। इस आन्दोलन को पंजाब के किसानों ने गति दी जब उन्होंने एक प्रतीकात्मक सात दिवसीय कार्यक्रम के तहत १ से ७ मई तक पंजाब की सारी मण्डियाँ बन्द रखीं। पंजाब राजभवन, चण्डीगढ़ के घेराव के माध्यम से किसानों ने और भारती किसान यूनियन ने यह साबित कर लिया था कि

वें आर्थिक कार्यक्रमों को सेना—जैसी सूक्ष्मता, अनुशासन एवं संगठन के साथ लागू कर सकते हैं। भा. कि. यू. ने सरकार को अपने रूख पर पुनर्विचार करने के लिए १० जून १९८४ तक की अवधि दी है। उसके बाद पंजाब के भीतर और बाहर की ओर गेहूँ का चलन पूर्ण रूप से रोकने का आन्दोलन छेड़ा जायेगा। उसने यह भी निर्णय लिया है कि अगली फसल से गेहूँ के रकबे में २५ प्रतिशत की कटौती की जायेगी। कुछ अन्य राज्यों के किसानों के साथ पंजाब के किसानों ने भी कर्जों की वापसी पर एकपक्षीय रोक लगा दी है।

ये अस्त्र उग्रवादियों के इक्के—दुक्के गुटों द्वारा इस्तेमाल किये जानेवाले बन्दूकों से बहुत ज्यादा प्रभावी हैं। विपक्ष एवं पक्ष के सदस्यों ने लोकसभा में इस सवाल को उठाया था। “कृषि मूल्य आयोग का पुनर्गठन?” “सवाल ही नहीं उठता है” रावसाहब ने बताया। “कृषि मूल्य आयोग वैज्ञानिक एवं अर्थशास्त्रीय तरीकों से काम करता है और विशेषज्ञ ही उसके सदस्य हो सकते हैं। वह कोई पंचायत नहीं है कि उसमें हर किसी को सदस्य बनाया जा सके।”

लेकिन किसान संगठनों के आन्तरराज्य समन्वय समिति ने कभी यह मांग नहीं उठाई थी कि कृषि मूल्य आयोग की सदस्यता में परिवर्तन किया जाय। किसान आंदोलन के लिये ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह है कि आयोग के सदस्य क्या करते हैं और उसे कैसे करते हैं। राव साहब का दावा है कि कृषि मूल्य आयोग वैज्ञानिक एवं अर्थशास्त्रीय तरीकों से काम करता है—कम से कम पंचायतों की अपेक्षा में। इसी दावे की जांच पड़ताल करने की जरूरत है।

आयोग के दस्तावेज अत्यन्त सुरक्षित रहस्य होते हैं। मूल्यों का निर्धारण गोपनीय रखा गया है और उत्पादक यह जानने की आशा नहीं कर सकते हैं कि कैसे जादूगर अपनी टोपी से विचित्र जानवरों को बाहर निकालता है। अगर कृषि मूल्य आयोग वास्तव में एक वैज्ञानिक एवं अर्थशास्त्रीय संस्था है तो उसे लोहे के पर्दे पीछे अपने को छिपाने की क्या जरूरत है? मूल्य आयोग के पंडित अपनी कलाकारिता और कारीगरी के महान रहस्यों को देशवासियों से छिपाने की इच्छा क्यों रखते हैं?

आयोग के कायकलापो का जो अल्प स्वल्प अंश सर्वसाधारण को देखने को मिलता है, उससे यह संदेह पैदा होता है कि यह गोपनीयता किसानों को वाजिब लाभकारी मूल्य न देने के उद्देश्य से अपनाई गई सिद्धांत विहीनता पर पर्दा डालने के लिये बरती जाती है। हालाँकि पंचायतें

सुव्यवस्थित कार्यप्रणाली के आदर्श नमूने नहीं हैं, फिर भी वे कृषि मूल्य आयोग की नीचता तक उतर नहीं आती हैं। कैसी वैज्ञानिकता एवं तर्कपूर्णता के साथ आयोग लागत खर्च का निर्धारण करता है? मूल आंकड़े वित्त एवं सांख्यिकी निदेशालय, राज्य सरकारें एवं कुछ मान्यता प्राप्त संस्थाओं से प्राप्त होते हैं। क्या आयोग स्वयं को आश्वसित करता है कि नमूनों का चुनाव सही है? लागत खर्च के सारे अंशों को जोड़ा जाता है? आंकड़े तर्कपूर्ण हैं?

स्पष्टतया नहीं। आठवीं दशक के अन्त के अपनी रपटों में आयोग ने यह सूचना दी है कि १९८०—८१ में पंजाब में नैसर्गिक खाद की जो मात्रा इस्तेमाल की गई वह १९७७—७८ की मात्रा का आठवाँ अंश मात्र थी। स्पष्ट है कि इस बीच नैसर्गिक खाद ज्यादा महंगी हुई थी। लेकिन इसके बावजूद आयोग का दावा है कि खाद का मूल्य इस अवधि में १.२७ रुपये प्रति कुन्तल से कम होकर १९८०—८१ में १.१४ रुपये प्रति कुन्तल रह गया। जमीन की उत्पादकता बनाये रखने और खारापन रोकने में नैसर्गिक खाद की महत्वपूर्ण भूमिका को देखते हुए आयोग से यह अपेक्षित था कि वह उसके प्रयोग बढ़ाने के उपाय सुझाये। लेकिन आयोग ने ऐसा कुछ भी नहीं किया है। शायद इसे उसकी अकर्मण्यता कहकर फिलहाल माफ भी किया जा सकता है। लेकिन आयोग को नैसर्गिक खाद १ रुपये कुछ पैसे के दाम में कहा मिल जाती है जब उसे १० रुपये प्रति कुन्तल से कम में खरीद पाना नामुमकिन है? आयोग ने कैसे इस बात को स्वीकार कर लिया कि खाद की कीमतें निरन्तर गिर रही हैं।

कीटाणुनाशक दवाओं का लागत खर्च

गेहूँ की प्रति हेक्टेयर खेती में लगने वाले कीटाणुनाशक दवाओं की कीमत क्या है? आयोग के अनुसार उसकी कीमत १९७०—७१ में ४१ पैसे थी जो १९८०—८१ में १४.६१ रुपये हो गई। बीच में १९७६—७७ में उसकी कीमत केवल एक पैसा प्रति हेक्टेयर थी जो अविश्वसनीय है। पता नहीं १९७६—७७ में कीटाणुनाशक दवा के रूप में किस चीज का इस्तेमाल किया गया था, जिसका खर्च पूरे एक हेक्टेयर के लिए केवल एक पैसा था?

तीन हार्सपॉवर के मोटर का ट्र्यूबवेल चलाकर पांच एकड़ गेहूँ की खेती करने वाले पंजाब के एक किसान को बिजली का खर्च प्रति हेक्टेयर १५७.५० रुपये देना पड़ता है, जिसमें मशीनरी की घिसाई, उस पर लगी पूँजी पर व्याज, मरम्मत का खर्च, एवं मजदूरी शामिल नहीं की गयी है।

हाल में बिजली दरों में की गई बढोत्तरी के पहले, जिसके विरोध में किसान आन्दोलन कर रहे हैं, यह खर्च करीबन ११७ रुपये था। लेकिन कृषि मूल्य आयोग अनुसार यह खर्च १९७६-७७ के १८१.४५ रुपये प्रति हेक्टेयर से नाटकीय ढंग से घटकर १९८०-८१ में केवल ७०.८६ रुपये हो गया, जबकि इसी अवधि में मुद्रास्फिति बहुत अधिक थी।

आयोग द्वारा की गई इस तरह की बेवकूफियों के किस्से अनगिनत हैं। निजी भूमि के लगान की दरों के आधार पर पंजाब में भूमि की कीमतें ३००० रुपये प्रति एकड़ के लगभग होंगी। और एक हेक्टेयर भूमि का १९८०-८१ में किराया १५४.४९ रुपये होगा। पंजाब के गेहूँ उत्पादक किसानों की सम्पन्नता के बारे में ईर्ष्या व्यक्त करने वालों के लिए उनकी सम्पन्नता में भागीदार बनने का यह एक शानदार मौका है। केवल १५४.४९ रुपये के खर्च पर।

भूमि पर लगाये जाने वाला कुल कर १९७७-७८ में प्रति हेक्टेयर ४.६० रुपये होता था और उसके बाद यह लगातार घटता आया है। केवल १९७४-७५ के वर्ष में यह खर्च १९.०२ रुपये तक बढ गया था।

१९८०-८२ में स्थिर पूंजी पर व्याज की राशी २५८.७५ रुपये होती थी और घिसाई खर्च ५७.०४ रुपये। इस आधार पर पंजाब के सम्पन्न किसान के पास की कुल पूंजी की मात्रा केवल २००० रुपये होगी।

१९८०-८१ में प्रति हेक्टेयर पर फुटकर खर्च ५.४६ रुपये था जो १९७९.८० की सर्वाधिक राशि १०.५३ रुपये से काफी कम था।

कृषि मूल्य आयोग, जिसकी वैज्ञानिकता एवं भव्यता हमें समझाने पर राव बीरेन्द्र सिंह तुले हुये हैं, द्वारा प्रेषित इन विचित्र आँकड़ों को कैसे समझा जाय? आयोग के एक भूतपूर्व अध्यक्ष डॉ. काहलोन स्वीकार करते हैं कि त्रुटियों का एक मुख्य स्रोत नमूनों के चुनाव के तरीके में है।

विचित्र आँकड़े

“इस (मानव श्रम के प्रयोग के) घटने की प्रवृत्ति को केवल बढती मजदूरी के आधार पर समझा नहीं जा सकता है और ऐसी संभावना है कि इसका स्रोत नमूनों में हुए परिवर्तन है।... ऐसा संभव है कि इस अन्तर का कारण मशीन का प्रयोग कम होने वाले क्षेत्रों की जगह उसका प्रयोग अधिक होने वाले क्षेत्रों में खेतों का चुनाव करने से हुआ हो।”

और “उत्पादन खर्च में होने वाले परिवर्तनों का विश्लेषण करते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि १९७६-७७ से १९७८-७९ की अवधि के लिए किए गये अनुमान जिस नमूने के अध्ययन पर आधारित थे,

वह १९७०-७१ से १९७५-७६ की अवधि के लिए किये गये अनुमानों के नमूने से अलग था।”

इस तरह नमूनों के चुनाव इतने त्रुटिपूर्ण है कि अनुमानित राशियों में भारी घटाव-बढाव होता है, लेकिन विशिष्टता यह है कि घाटा हमेशा किसानों को ही होता है। लेकिन सभी गलतियों का मूल नमूनों का त्रुटिपूर्ण चुनाव नहीं है। अधिकतर गलतियों का कारण लापरवाही है। उत्पादन खर्च के बहुत सारे घटकों को पूरी तरह अनदेखा कर दिया गया है। अस्थिर पूँजी (वर्किंग कैपिटल) पर ब्याज, कीटाणुनाशक दवाओं का खर्च आदि छोड़ दिये गये हैं। फसलों की अनिश्चितता से उत्पन्न घाटे को शामिल नहीं किया गया है क्यों कि एक विशेषज्ञ समिति का कहना है, ‘अर्थशास्त्र के अनुसार अनिश्चितता का सामना करना उद्यमियों का धर्म है जिसके प्रतिफल के रूप में उन्हें मुनाफा मिलता है। और मुनाफा लागत खर्च का अंश नहीं बल्कि लागत और दाम के बीच का अन्तर है।’

लेकिन अगर किसान अपनी फसल का बीमा कराता है, तो उसके लिए जमा की गयी राशि (प्रीमियम) को लागत खर्च की गणना में शामिल किया जा सकता है। इस संबंध में और कुछ बताने की जरूरत नहीं है।

कृषि सांख्यिकी के भारतीय समाज (इंडियन सोसाइटी ऑफ एग्रीकलचरल स्टैटिस्टिक्स) के पैंतीस वें सम्मेलन में दिये गये अपने भाषण में राव बीरेन्द्र सिंह ने स्वयं स्वीकार किया कि लागत खर्च गणना के आँकड़ों में “कृषि में लगायी जानेवाली चीजों की व्यवस्था करने में किसानों द्वारा किये जाने वाले खर्च, मरम्मत खर्च और ढुलाई का खर्च आदि शामिल नहीं किये जाते हैं।” अब-तक कोई सूचना प्राप्त नहीं हुई है कि ये सब खर्च बाद में उत्पादन खर्च की गणना में शामिल किये गये हैं या नहीं।

आयोग द्वारा उत्पादन खर्च के निर्धारण के काम के बारे में इतना बताना काफी है। लेकिन कृषि मूल्य आयोग से कुछ और भी काम अपेक्षित है। मूल्य नीति का बाकी अर्थव्यवस्था पर, खासकर जीवन निर्वाह खर्च, मजदूरी की दर व औद्योगिक उत्पादन खर्च पर होने वाले प्रभाव पर ध्यान देना आयोग के लिये आवश्यक समझा गया है। और उसके आधार पर “मूल्य नीति के सम्बन्ध में सिफारिशें देना... ताकि राष्ट्र व अर्थव्यवस्था की समग्र आवश्यकताओं के सन्दर्भ में और उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं के हितों को पर्याप्त ध्यान देकर एक सन्तुलित और समग्र दाम नीति तैयार की जा सके।”

इन महत्त्वपूर्ण कार्यों के साथ नाममात्र का भी न्याय करने के लिये

यह आवश्यक होगा कि वित्तमंत्रालय, योजना आयोग, रिजर्व बैंक आदि से आंकड़ों एवं दस्तावेजों का एक निरन्तर प्रवाह आयोग को उपलब्ध हो। अपनी संदर्भ शर्तों को ठीक से निभा रहे हैं इस बात से स्वयं आश्वासित होने का आयोग के सदस्यों का प्रयास दयनीय है। कभी कभी वे ऐसा कर भी देते हैं। उदाहरण के लिए कपड़ों पर लागू वर्तमान उत्पादन शुल्क के ढाँचे की समीक्षा करके लम्बे रेशे के कपास का इस्तेमाल बढ़ाने की सिफारिश करना (१९७५-७६)।

— मूल्य बढ़ाने वाले उद्योगों के हित में कच्चे कपास का निर्यात हतात्साहित करना।

— धान (चावला) के मूल्यों में प्रति कुन्तल ४ रुपये की वृद्धि करना ताकि प्रति हेक्टेयर उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा किसानों को मिले (१९७४-७५)।

— मुद्रास्फिति न बड़े इस हेतु धान के मूल्यों को कम रखना।
सरकार को चेतावनी

इन अतिरिक्त बातों की प्रासंगिकता काफी सीमित है। इनको परिमार्जित करने का कोई वस्तुपरक आधार नहीं है। गणनाओं में इन विभिन्न बातों को मनमाने ढंग से पारित किया जाता है। इसमें वैज्ञानिक या अर्थशास्त्रीय कुछ भी नहीं है। यही मुख्य कारण है जिस वजह से किसान संगठनों की समन्वय समिति यह मांग करती है कि कृषि आयोग को इन संदर्भ शर्तों से मुक्त किया जाय और उसे एक विशुद्ध लागत खर्च आयोग के रूप में काम करने दिया जाय।

अगर कृषि मूल्य आयोग द्वारा काम में गड़बड़ी पूर्ण रूप से निष्कपट है तो वह माफ की जा सकती है। कभी आयोग की गड़बड़ी से किसानों को फायदा होता और कभी घाटा होता। लेकिन कृषि मूल्य आयोग की अवैज्ञानिकता इस तरह अहानिकर नहीं है। उसकी गड़बड़ी में एक क्रमबद्धता है और हर समय घाटा किसान को ही होता है। राव बीरेन्द्र सिंह से यह उम्मीद रखना कि वे स्थिति की समीक्षा करेंगे शायद विवेकपूर्ण नहीं हो, लेकिन यह आवश्यक है कि कोई जिम्मेदार व्यक्ति यह काम करें। नहीं तो सरकार को किसानों के बढ़ते असंतोष का सामना करना पड़ेगा।

पूर्वप्रकाशन: मजदूर किसान नीति
१-३० जून १९८४

१०.

जो बिकेगा वही पैदा करो

इस बार बरसात समय से शुरू होगी इसके लक्षण दिख रहे हैं। पिछले तीन सालों में बरसात की शुरुआत ही देर से हुई थी। कुछ भागों में पीने के पानी की भी कमी हो गयी, इतनी कम बरसात हुई। मराठवाड़ा, विदर्भ के क्षेत्रों में न भूतो न भविष्यिति ऐसी बाढ़ आयी। फसल जल जाने से अकाल ग्रस्त क्षेत्रों में राहत कार्य की मांग की गयी। दूसरी तरफ बाढ़ की वजह से बेघर हुए लोगों के लिये सहायता केन्द्र चलाने पड़े। लेकिन इस बार बरसात समय से यानी जून के प्रथम सप्ताह से कोंकण में शुरू हुई। बरसात के चारो ही चारों महीने पर्याप्त मात्रा में ही पानी बरसेगा ऐसी आशा हम करते हैं।

बरसात की गुलामी से छुटकारा

पिछले तीन साल बरसात अनियमित हुई लेकिन कहीं भी खाद्यान्न की कमी नहीं हुई। कुछ सालों पहले देश में हमेशा खाद्यान्नों की कमी हुआ करती थी। कहीं बरसात कम हुई और अकाल पड़ा, कहीं बाढ़ आ गयी इसलिये अकाल पड़ा। अकाल के लिये कोई भी कारण पर्याप्त था। या यों कह सकते हैं कि अकाल के लिये किसी कारण की जरूरत ही नहीं थी। लेकिन पिछले तीन सालों में बरसात अनियमित होते हुए भी रिकार्ड उत्पादन हुआ। इस साल तो देश का खाद्यान्न उत्पादन १५ करोड़ टन के भी ऊपर गया है। खाद्यान्न उत्पादन की बरसात पर निर्भरता कम हुई है। खेती का मौसम की गुलामगिरी से छुटकारा हुआ है।

हरितक्रान्ति तकनीकी की उत्पादकता

यह चमत्कार आसानी से समझा जा सकता है। देश में तैयार १५ करोड़ टन खाद्यान्नों में से साढ़े नौ करोड़ पंजाब में तैयार हुआ। हरियाणा और उत्तर प्रदेश का पश्चिमी भाग आदि अन्य क्षेत्र मिला ले तो देश की पूरी फसल का हिसाब हो जाता है। किसानों को घर में लगने वाले अन्न को छोड़ दे तो बजार में विक्री के लिये आने वाले खाद्यान्न में पंजाब जैसे

राज्य का काफी बड़ा हिस्सा है। इस राज्य की विशेषता क्या है? नैसर्गिक अनुकूलता और पूरे साल पानी की विपुलता रहने वाले इस प्रदेश में हरितक्रान्ति के प्रयोगों पर सब से ज्यादा जोर दिया गया।

नये संकरी बीज, दवायें, खाद और तकनीक का ज्यादा से ज्यादा इस्तेमाल कर देश के खाद्यान्नों की कमी को दूर करने की नीति बनायी गयी। हरितक्रान्ति की तकनीक की उत्पादकता इतनी आश्चर्यजनक है कि पंजाब हरियाणा जैसा एक ही राज्य पूरे देश की जरूरत को पूरा कर सकता है।

पंजाब के किसानों को इतना अधिक उत्पादन करने के बाद भी क्या मिला यह एक अलग सवाल है। गेहूँ के मूल्य निर्धारण के समय किसानों को बहुत हानी पहुँची।

महाराष्ट्र का किसान और खाद्यान्न उत्पादन

महाराष्ट्र के किसानों के सामने किस तरह की समस्याएँ खड़ी हुई हैं इसका विचार ज्यादा महत्वपूर्ण है। पिछले साल का अनुभव हम जल्दी भूल नहीं सकते। येवले तालुका के किसानों को बाजरा ६३ पैसे किलो बेचना पड़ा। सरकारी समर्थन मूल्य ज्यादा होने के बावजूद महाराष्ट्र के किसानों को जोआर, बाजरा ६० पैसे से लेकर ९० पैसे प्रति किलो की दर से बेचना पड़ा। एक तरफ कम बरसात या बाढ़ की वजह से फसल नष्ट हुई और दूसरी तरफ खाद्यान्नों के भावों में गिरावट हुई। इसका अर्थ यह हुआ देश के खाद्यान्न के बाजार में महाराष्ट्र जैसे राज्यों के किसानों का कोई स्थान नहीं है।

गेहूँ और चावल का भरपूर उत्पादन उत्तर के राज्यों में होने से खाद्यान्नों की कमी दूर हुई। अब जोआर की कमी होगी तो जोआर की कीमत बढ़ेगी नहीं क्योंकि जोआर उपलब्ध न होने पर उसकी जगह उपभोक्ता गेहूँ या चावल ले सकते हैं। जोआर के लिये दो पैसे ज्यादा देने की आवश्यकता उसे महसूस नहीं होगी।

हरितक्रान्ति वाले राज्यों में प्रति हेक्टेयर ३०-४० क्विंटल गेहूँ या चावल पैदा होता है। अगर स्थाई पूँजी निवेश को छोड़कर केवल चालू नगदी खर्च का ही विचार करें तो भी महाराष्ट्र जैसे राज्य खर्च के मामले में पंजाब जैसे राज्य की बराबरी नहीं कर सकता। फसल उगाना अब महाराष्ट्र के किसानों के लिये आर्थिक दृष्टि से अनुकूल नहीं है। घर में खाने के लिये भी बाजार से खरीदना ज्यादा सस्ता पड़ेगा। लेकिन अपने खेतों में पैदा किया हुआ माल बाहर बेचकर खाद्यान्न खरीदना घाटे का सौदा है।

बिना वजह दो-दो बार बाजार में जाना पड़ेगा, दो बार व्यापारियों को फायदा होगा और दो बार अपना नुकसान होगा। इससे बेहतर यह है कि केवल घर में खाने के लिये ही घर में पैदा करें। इससे यह होगा कि अच्छे गेहूँ और चावल पैदा कर सकते हैं। इस तरह से विचार करने पर महाराष्ट्र के किसानों को अपनी जरूरतों के मुताबिक ही खाद्यान्न पैदा करना चाहिये, बेचने के लिये नहीं। इसी में उनकी बुद्धिमानी है।

खाद्यान्न बेचने के लिये पैदा मत करो

अपने लिये, यानी सिर्फ अपने और परिवार के लिये नहीं। खेतों पर काम करने वाले किसी भाई के पास जमीन न हो, घर का कुछ पैदा न होता हो, उसे मजदूरी के एवज में या उधार या विक्री के रूप में देने के लिये पर्याप्त अनाज पैदा करना चाहिये। गांव के जान पहचानवालों को अगर जरूरत पड़े तो उन्हें भी देते आना चाहिए। इसके लिये आवश्यक अनाज पैदा करना जरूरी है। लेकिन अगर बाजार में बेचने के लिये कोई चावल, गेहूँ या जोआर पैदा करेगा तो उसका दीवाला निकलना निश्चित है।

तो फिर अनाज बेचने के लिये पैदा नहीं करेंगे, यह तय हुआ। परभणी अधिवेशन में भी यह प्रस्ताव पास हुआ। पंजाब के किसानों ने भी साथ दिया। पंजाब का गेहूँ उत्पादन आगामी साल से कम से कम २५% कम करने का निर्णय पंजाब के किसानों ने लिया है। महाराष्ट्र के किसान भी उनका साथ देंगे।

वैकल्पिक उत्पादन

इस निर्णय की वजह से कुछ प्रश्न उत्पन्न होते हैं। बेचने के लिये अनाज नहीं पैदा करना है, लेकिन उसकी जगह दूसरा क्या किया जाये। कौनसी फसल पैदा की जाय। इस प्रश्न का जवाब परभणी अधिवेशन के प्रस्ताव में है।

पेड़ों की खेती :— सुबबुल, नीलगिरी जैसे जल्दी बढ़ने वाले पेड़ों की खेती फायदेमन्द हो सकती है। मनमानी ढंग से जंगलों को काटने से किसी भी तरह की लकड़ी की कमी पैदा हो गयी है और कीमतें लगातार बढ़ रही हैं। उद्योगों की बढ़ती आवश्यकताओं को देखते हुए लकड़ी की कीमत इसी रफ्तार से बढ़ती रहेगी।

फलों के बाग :— बेर, सीताफल, जामुन इस तरह के फलों के पेड़ सीमित तरीके से लगाने पर कुछ ही समय में उत्पादन शुरू हो सकता है।

दलहन और तिलहन :— इसकी कमी पूरे देश में लगातार बढ़ रही है।

अनाज का उत्पादन बढ़ाना चाहिये, ऐसा अगर शासन को वाकई लगा है तो उसे अब देशभक्तिपर भाषण देना बन्द करना चाहिये। देशभक्ति अबहार में दिखानी चाहिये। अनाज को उचित कीमतें मिलेंगी ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये। विदेश से महंगा अनाज लाकर सड़ने में बेचना बन्द करना चाहिये। एक स्मरण

जो किसानों को नहीं रखा।

महान् बेतन का एक चौथाई भाग भी किसानों को नहीं मिलता, इसका भी किसानों का सीना फूल गया। लेकिन साधारण जवान को मिलने वाले प्रति अनाज पैदा करता रहा। किसी ने कहा, "जय जवान, जय किसान"। इससे खुद का नफा-नुकसान भूल गया, अपने घरबार का नुकसान होने पर भी देशहित के लुभावने भाषणों से किसान कुछ समय के लिये भ्रमित हुआ। भी लगा। अब अनाज उत्पादन कम करने में देशघातक कुछ भी नहीं है। शेतकरी संघटना के ऊपर गालियों की बौछार हुई, देशद्रोही होने का आरोप मचा। अनाज का उत्पादन कम करो ऐसा प्रस्ताव पास करने के लिये परम्परी अधिवेशन का प्रस्ताव पास होने पर पूरे देश में शोर

इतिहास की गहक जलन :-

जमीन का एक छोटा हिस्सा खाली रखने में किसानों का हित ही है। उतनी ली। साल भर साल फसल पैदा करने पर उत्पादन खर्च बढ़ेगा। छोटों से छोटें टुकड़ों पर भी खेती की। जितनी ज्यादा फसलें ले सकें वे अधिक अनाज पैदा करें। इस अभियान के दौरान किसानों ने जमीन के जाती है। लेकिन किसान अगर खेती नहीं करता है तो जमीन सुपुर्तरी है। कारखानेदार कारखाना बन्द रखता है तो उसकी मशीन आदि की जाग लगी जमीन खाली छोड़ दो :- किसानों का यह एक भाग्य है। अगर कोई है। अगर कुछ भी नहीं कर सकते हैं तो -

पसन्द आनेवाली वस्तु दिखने पर उसकी कीमत की वे परवाह नहीं करते उपजों का इस्तेमाल होता है। उन्हें फलों और फूलों का शौक होता है। उन्हें की अपेक्षा यहाँ ज्यादा है। उनके रोज के खाने में अनेक प्रकार के कृषि अत्यधिक हुआ है। धनी, बेतन श्रीमती बर्गों का अनुपात अन्य किसी राज्यों नगदी फसल :- नगदी फसल का रकबा बढ़ाओ। महाराष्ट्र में शहरीकरण रहेगी।

बाहर के मजदूरों को ज्यादा काम में लेने वाले किसानों को ये फसल असुविधा जनक होगी। लेकिन घर की मजदूरी से खेती करनेवाले किसानों को नगदी फसल के नीर पर दहलन और तिलहन की खेती कियानी

१.३.१९८४

पूर्वप्रकाशन : मजदूर किसान सीति

अनाज पैदा करना नहीं।

वही पैदा किया जायेगा। अगर अनाज बिकता नहीं तो बेचने के लिये बिक नहीं सकता, तब तक किसान आन्दोलन का मार्ग स्पष्ट है। जो बिकेगा और जब तक यह नहीं हो सकता है, यानी जो पैदा होता वह पूरे देश को अनाज देता है, तो देश आधी दुनिया को पयान अनाज दे सकता है। चाहिये कि अनाज पैदा करने का सहज आकर्षण किसानों को हो। अकेला पंजाब का हिसाब बन्द करना चाहिये। अनाज की कीमतें ऐसी निर्धारित की जानी कि नन्दल गौर खद, दवा छिड़कने का खर्च प्राति हेक्टेयर एक पैसा ऐसी बेवकूफी

पंजाब — काल्पनिक और वास्तविक

पंजाब पर चर्चा काफी है लेकिन वास्तविकता पर प्रकाश कुछ नहीं है। केवल प्रशासनिक स्तर पर या उग्रवादियों की कारवाइयों के संबंध में ही नहीं वरन तथ्यों के आधार पर सोचने विचारने की बुद्धिमत्ता की यह भयानक हार है।

गत चार वर्षों में भारती किसान यूनियन के अपने सहयोगियों के साथ मैं पंजाब के सभी जिलों में घूम चूका हूँ। पटियाला के हुए सत्याग्रह में, चंडीगढ़ में राजभवन पर किए गये पिकेटिंग में, गेहूँ रोको आंदोलन में मैंने हजारों सिख किसानों के साथ भाग लिया है। इन पंजाबी किसानों के साथ घूमते हुए पंजाब की स्थिति को मैंने साफ तौर पर देखा है। इसलिए पंजाब की स्थिति पर पत्र पत्रिकाओं में निकल रहे तथाकथित अभ्यासपूर्ण लेख जब पढ़ता हूँ तो बड़ा अजीब लगता है। हर लेख मेरे देखे हुए पंजाब से अलग किसी कपोल कल्पित प्रदेश की बात कर रहा है ऐसा लगता है।

वास्तविक स्थिति से यह दूरी आने वाले भयानक संकट की पूर्व सूचना ही है। अभी संकट पूर्ण रूप से सामने नहीं आया है। लेकिन यदि आज की तरह ही विचार की दिशा रही तो और भी भयानक आपत्तियाँ देश को झेलना पड़ेगी— केवल पंजाब में ही नहीं वरन एक के बाद एक अन्य कुछ राज्यों में भी। बचे हुए राज्यों में संकटों का प्रादुर्भाव होने में देर नहीं लगेगी। इसलिये मैं कुछ मुद्दे सामने रख रहा हूँ।

(१) कुछ लोगों का कहना है कि सरकार ने, विशेषकर प्रधानमंत्री ने चुनाव को मद्देनजर रखते हुए पंजाब के प्रश्न को भड़काया है, इनका कहना है कि श्रीमती गाँधी भयानक चुड़ैल की तरह हैं। वे अपनी और अपने परिवार की सत्ता बनाये रखने के लिए अपने अद्भूत व क्रूर मंत्र तंत्र की सहायता से कुछ भी करने को तैयार होंगीं। इससे ज्यादा असत्य क्या

हो सकता है? मुझे तो प्रधानमंत्री की जगह एक असहाय स्त्री नजर आती है, दुलमुल निर्बुद्ध लोगों से घिरी हुई, अपने नेतृत्व में देश को भयानक विनाश की ओर बढ़ता देखनेवाली और उस विनाश को रोक पाने की असमर्थता से भयग्रस्त। पंजाब में उत्पात करवाने जैसी अपार ताकत एक व्यक्ति को देना और सभी दोष श्रीमती गांधी पर मढ़ना केवल एक राजनैतिक दौंवपेच हो सकता है। हो सकता है कि ऐसा कहनेवाले लेखक पूरी गंभीरता के साथ यह न कहते हों।

(२) दूसरी ओर प्रधानमंत्री और सत्तारूढ़ पार्टी के जोकर पंजाब की स्थिति के लिए विपक्ष, अकाली दल, उग्रवादी और खालिस्तानियों तक को जिम्मेदार ठहराने का प्रयास करते हैं। यह भी उतना ही गलत है। सामाजिक आर्थिक वास्तविकता पर आघात करने वाली किसी समस्या के बगैर इतने बड़े पैमाने पर विध्वंस कोई व्यक्ति या संगठन नहीं कर सकता।

(३) परिकथा सुनना पसंद करने वाले बच्चे की तरह किसी भी समस्या का कारण कोई खलनायकी व्यक्ति है यह मानना हम पसंद करते हैं। तब वह खलनायक कभी रावण, कंस, जीन्ना, इंदिरा, जैलसिंह तो कभी भिंडरावाला के रूप में उपस्थित होता है। कहानी में खलनायक के प्रवेश के साथ ही समस्या शुरू होती है और खलनायक के दूर होते ही समस्या भी दूर हो जाती है—चारों ओर प्रसन्नता ही प्रसन्नता। कितना आसान है। फिर कठिन आर्थिक एवम् सामाजिक सवालों पर विचार करने की जरूरत ही नहीं होती, इन सवालों पर विचार करना उलझन भरा, असुविधाजनक होता है।

(४) मेरा यह निश्चित मत है कि नवंबर १९८२ तक पंजाब में कहीं भी साम्प्रदायिक आधार पर धुवीकरण नहीं हुआ था—यह मेरा अनुभव है। सांप्रदायिक आधार पर वहाँ कोई भी तनाव नहीं था। ज्यादातर हिंदू लोग शहरों में हैं और वे गाँव के गंवार(!) सिख किसानों से ऐसा व्यवहार करते थे मानों उनपर एहसान कर रहे हों। शहरी व्यापारियों के इस झूठे और कपटपूर्ण व्यवहार के प्रति अधिकांश सिख किसानों के मन में तिरस्कार भरा था। हरियाणा के जाट — लाला या महाराष्ट्र के मराठा — ब्राह्मण संबंधों जैसा ही पंजाब में सिख — हिंदू संबंध का स्वरूप था। पूरे देश भर में देहाती किसान और शहरी नागरिक के संबंध इसी प्रकार के हो गये हैं। उनके आर्थिक संबंध मूलतः संघर्षात्मक रहे हैं। सामाजिक—राजनैतिक साधनों द्वारा बंधनों में बंधी संभावी खतरनाक स्थिति बार बार स्फोटक स्वरूप ग्रहण करती है— कभी जब शक्तिशाली गैर किसान को धक्का

लगता है तब या कभी जब किसान समाज की हो रही लूट एक हद से ज्यादा आगे बढ़ जाती है तब।

मलबार के मोपला, सिंध और पूर्व बंगाल के भूमिहीन मजदूर, आंध्र, महाराष्ट्र, बंगाल के काश्तकार इन सब ने अपने — अपने समय में जुलमी राजसत्ता के खिलाफ लड़ाई लड़ी है। लेकिन हर बार राजसत्ता ने इन लड़ाइयों को जातीय, वर्गीय या धार्मिक विद्रोह का नाम देकर कुचल दिया है। ऐसी लड़ाइयों का संबंध आर्थिक स्थितियों से होता है यह कोई मानने को तैयार नहीं है। मोपला विद्रोह इसलिए मुसलमानों का हिंदुओं पर क्रूर आक्रमण हो जाता है। यह चाल इतनी सफल हुई कि असहाय मोपलाओं को मस्जिदों का आश्रय लेना पड़ा जहाँ मुल्ला लोग उनके स्वागत के लिये तैयार ही थे। लेकिन कुछ ही समय में हत्यारी राज सत्ता ने कानून और व्यवस्था के नाम पर मस्जिदों में शरण मिले मोपलाओं को निर्दयता से मार डालना शुरू किया। असल में किसानों का असंतोष दूर करने के और भी तरीके हो सकते हैं लेकिन जब आर्थिक और धार्मिक असंतोष एक साथ आते हैं तो उनसे निपटने के लिए राजसत्ता को 'मोपला' विधि ही पसंद आती है ऐसा लगता है।

(५) एशियाड के जमाने में यानी नवंबर १९८२ में सुरक्षा के नाम पर दाढ़ी और पगड़ी धारियों को जो अपमानजनक व्यवहार मिला उससे सिखों के मन में यह भावना बैठने लगी कि इस देश में वे अन्य नागरिकों के समान नहीं हैं, परदेशी हैं। जिस समाज ने देश को आजादी दिलाने और उसे बनाये रखने के लिए अन्य किसी भी समाज से अधिक त्याग किया उस समाज के हर व्यक्ति को देशद्रोही करार देना एक धक्का देने वाली बात है। "आपरेशन ब्लू स्टार" की छाया में पृथक्करण की भावना बढ़ी और अभी भी यदि हम आर्थिक-सामाजिक सवालों को अलग कर पंजाब का प्रश्न हल करने की कोशिश करते हैं तो पृथक्करण की प्रक्रिया थोड़े समय में ही पूरी होने का भय बना रहेगा।

पंजाब की स्थिति के पीछे कोई आर्थिक कारण हैं यह मानने को सरकार तैयार होगी यह नहीं लगता। वहाँ की स्थिति पर सरकार ने जो श्वेत पत्र प्रकाशित किया है उसके शुरू में ही पंजाब में तीन आन्दोलनों के अस्तित्व की बात कही है। आसानी के लिए हम उन्हें लोंगोवाल, भिंडरावाला और चौहान आन्दोलन कहेंगे। इन तीन आंदोलनों के अस्तित्व को सरकार स्वीकार करती है। लेकिन फिर भारतीय किसान यूनियन के आंदोलन के बारे में सरकार को क्या करना है? गत अठारह माहसे पंजाब

के किसान लगातार आंदोलन कर रहे हैं। हजारों किसानों ने जिनमें सभी सिख थे, चंडीगढ़ में राजभवन का पिकेटिंग किया। यह पिकेटिंग सब के लेने लायक अनुशासनबद्ध और शांततापूर्ण तरीके से किया गया है। यहाँ तक कि इस पिकेटिंग की आँच में तपे चंडीगढ़ के नागरिकों को भी अपने इन नये महमानों की आवभगत करने के अलावा कोई रास्ता नहीं बचा। मई १९८४ के पहले हफ्ते में भारतीय किसान यूनियन ने कृषि उत्पादों के उचित मूल्य तथा कृषि मूल्य आयोग की बर्खास्तगी की माँगों को लेकर गेहूँ मंडियों का बहिष्कार किया और उस वजह से उस काल में गेहूँ का एक दाना भी बाजार नहीं पहुँचा।

खुद गांधीजी द्वारा चलाए गए आन्दोलनों से भी कहीं अधिक उदाहरण देने लायक इस आंदोलन को मानने को सरकार तैयार नहीं हैं। भारतीय किसान यूनियन के निवेदनों की प्राप्ति भी सरकार नहीं देती, बातचीत तो दूर की बात है। धर्मनिरपेक्ष, गैरराजनैतिक, शांतिपूर्ण तथा आर्थिक स्वरूप के लेकिन असुविधाजनक इस आंदोलन की ओर सरकार ध्यान नहीं देती और अन्य आंदोलनों को जिन्हें सरकार आसानी से हल कर सकती है, प्रकाश में लाती है। पूरे देश पर भविष्य में इसका क्या असर होगा इसकी सरकार को चिन्ता नहीं है। असल में राज्यकर्ता जिनका प्रतिनिधित्व करते हैं उनके आर्थिक हितसंबंधों की रक्षा करना उनके लिए जरूरी है लेकिन यहाँ फिर एक बार 'मोपलाओं' को उन्हें स्वीकारने को उत्सुक 'मुल्लाओं' के आश्रय में जाने के लिए बाध्य किया जा रहा है।

(७) कृषि उत्पादों के मूल्य कम रखकर पूँजी प्राप्त करना तथा उसका इस्तेमाल उद्योगों के विकास के लिए करना आर्थिक विकास की सरकार यह नीति ही पंजाब का असंतोष इण्डिया-भारत खाई का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है।

उज्ज्वल हरितक्रांति और ढोल बजाकर सुनाई गई पंजाब के किसान की समृद्धि अब विसृत हो गई है। श्री मुल्कराज आनन्द भी यह स्वीकार करते हैं कि सिख किसानों में से एक तिहाई किसान गरीबी की रेखा के नीचे जी रहे हैं। पंजाब कृषि उत्पादन में निश्चित तौर पर आगे है, आधुनिक तकनीक को उसने अपनाया है, खाद किटाणुनाशक दवाओं का उसने पूरा प्रयोग किया है। सरकार ने यहाँ के किसानों को ट्रैक्टर, इलेक्ट्रिक मोटर, पंप सेट आदि खरीदने के लिए सुलभ कर्ज की सुविधा दी। इस वजह से पंजाब का मेहनती किसान खुश और कृतज्ञ हुआ और उसने गत २० वर्षों में देश को अनाज के मामले में आत्मनिर्भर बनाया।

पधानमंत्री यदि यह भीरता पूर्वक सोचती है कि पंजाब के जल जा सकता है।
 विन्दा रह सकता? इस संबंध में पंजाब के उदाहरण से बहुत कुछ सीखा
 पर आधारित व्यवस्था का निर्माण निश्चित है लेकिन तब तक क्या देश
 के आधारपर या सीमावाद के नामपर उभरता जायेगा। किसानों के शोषण
 आर्थिक किसान आंदोलन में नहीं है। इसलिये यह असंतोष धार्मिक, भाषा
 है। इस पूरे असंतोष की एकजुट करने की ताकत अभी धर्मनिरपेक्ष व
 (८) लेकिन इस किसान का असंतोष अन्य प्रदेशों में भी उभर रहा
 इसलिये यहाँ के असंतोष के घातक परिणाम हो सकते हैं।

इंडिया-भारत विभाजन संयोग से धार्मिक तौरपर भी मिलता जुलता है
 प्रचलित हुआ है यह बात आसानी से समझ में आती है। पंजाब का
 पंजाब का असंतोष सरकार की किसान विरोधी नीति के कारण ही
 जिस प्रदेश ने कृषि व्यवसाय में उल्लेखनीय प्रगति की है उस
 समृद्धि वास्तविक नहीं है, कायमिक है।”

“...पंजाबी किसान के तथाकथित समृद्धि की कल्पना झूठी है। यह
 लाभक नहीं था।
 जीवन-स्तर उनके बराबर आनेवाले और किसानों के जीवन-स्तर से गुलना
 रहे थे। कहीं भी ऐयाशी नजर नहीं आई। देहात में रहने वाले किसानों का
 “..... अधिकशः पंजाबी किसान बहुत ही सामान्य तरीके से जी
 मोह होता है।

(श्री. एस. एस. प्रेमल तथा डी. एस. संघु) अध्ययन का सारांश देने का
 इसी संबंध में लिखता आया है। फिर भी पंजाब कृषि विषयविद्यालय के एक
 लिखन नहीं चाहता क्योंकि गत कुछ वर्षों से अन्य किसी विषय की जगह
 कृषि उत्पादों के मूल्य किस तरह अनुचित है इस संबंध में मैं
 असहनीय बोझ से दबे हैं।

किस के कृषि उत्पादक सरकार की मूल्य नीति की कृपा (i) से कर्ज के
 आवश्यक सभी चीजों की अर्जुदान या कर्ज के द्वारा दिया गया है। सभी
 (दुष-)(परिणाम उसकी समझ में आ रहे हैं। कृषि व्यवसाय के लिये
 लेकिन अब किसान जगत्क हुआ है और हरितक्रांति के आर्थिक

पूर्वप्रकाशन : मजदूर किसान नीती
 १-३० सितंबर १९८४

नाकामयाब साबित होगा।

किसान जिस कर्ज से दब गया है उससे उसको मुक्त करना चाहिए। पंजाब
 के किसानों की, जो संजोग से सिख है—मूल आर्थिक समस्या हल किये
 बौर अपनाया गया अन्य कोई भी तरीका पंजाब की समस्या हल करने में

१२.

प्रधानमंत्री के चुनावी हथकंडे

पिछले तीन चार दिनों में प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी ने कृषि उपजों के लिए लाभकारी मूल्य के विषय पर अनेक बयान दिये हैं।

१३ फरवरी को कोपरगांव (महाराष्ट्र) में मैंने प्रधानमंत्री से अपील की थी कि वे महाराष्ट्र की अपनी चुनाव प्रचार यात्रा का लाभ उठाकर लाभकारी मूल्यों के सवाल पर केन्द्र सरकार का रुख स्पष्ट करें। इस अपील की प्रतिक्रिया—स्वरूप व्यक्त किये गये वक्तव्यों के लिए शेतकरी संघटना प्रधानमंत्री को धन्यवाद देती है।

खामोशी टूटी

शेतकरी संघटना और उनके साथ पंजाब, हरियाणा, बिहार, म. प्र., गुजरात एवं आन्ध्रप्रदेश के गैर-राजनैतिक किसान संगठनों ने पिछले १५ महीनों से यह माँग की है कि कृषि मूल्य आयोग के स्थान पर एक कृषि उत्पादन खर्च आयोग की स्थापना की जाय, और यह नया आयोग एक ऐसी विशुद्ध तकनीकी समिति हो,

- (१) जिसपर राजनैतिक-आर्थिक चरित्र के कार्यों को सोंपा न जाय।
- (२) जो बिना किसी गोपनीयता के, खुल्लम खुल्ला काम करें।
- (३) उत्पादन खर्च की गणनाओं को वास्तविक फसल उत्पादन में प्रमाणित करें।
- (४) इसकी व्यवस्था करें कि किसानों को कम से कम वैज्ञानिक आधारपर गणना किये गये मूल्य प्राप्त हों। और
- (५) उत्पादन खर्च में प्रतिदिन २०/- रुपये की दर से बाहर के मजदूरों और घर के सदस्यों की मजदूरी जोड़ें।

प्रधानमंत्री और सम्बन्धित मन्त्रालयों को इस विषय पर भेजे गये पत्रों व संस्मरणों के जवाब में पत्र प्राप्ति की मामूली सूचना भी सरकार की ओर से प्राप्त नहीं हुई।

पंजाब के किसानों ने उपरोक्त माँग के समर्थन में कई शांतिपूर्ण आंदोलन और प्रदर्शन किये हैं—

- (१) १२-१८ मार्च १९८४ को चंडीगढ़ में राजभवन का घेराव।
- (२) १-८ मई १९८४ को गेहूँ मंडियों का बहिष्कार।
- (३) २० जुलाई १९८४ के बाद जारी सत्याग्रह आंदोलन।

महाराष्ट्र में शेतकरी संघटना ने सितम्बर—अक्टूबर १९८४ को दो विराट प्रचार यात्राओं का आयोजन किया, सुप्रसिद्ध “गाँव बन्दी” आंदोलन चलाया जिसमें लाभकारी मूल्यों के महत्वपूर्ण सवाल पर राजनैतिक पार्टियों के नेताओं को अपना रुख स्पष्ट करने के लिए मजबूर किया गया और ३ फरवरी ८५ को प्रतीकात्मक एक घंटे का रास्ता रोको आन्दोलन किया।

जहाँ उपरोक्त सारे आन्दोलन असफल साबित हुए, वहीं चुनाव की मजबूरियाँ सफल हो गयीं और अब प्रधानमंत्री लाभकारी मूल्य के सवाल पर खुले में आ गये हैं।

चुनावी हथकंडे

प्रधानमंत्री के वक्तव्यों ने किसान आन्दोलन की सब से बुरी शंकाओं की पुष्टि की है।

१— श्री राजीव गांधी चुनावों में झूठ का सहारा लेने में माहिर साबित हुए। उनके वक्तव्य उसी झूठ से भरे हैं। वे अपने इस दावे को गंभीरता से लिए जाने की उम्मीद नहीं रखते होंगे कि “ केवल कांग्रेस शासित राज्यों में ही किसानों को लाभकारी मूल्य दिये जा रहे हैं। ”

(चित्तौड़गढ़, टाइम्स आफ इंडिया, १६ फरवरी १९८५)

कृषि मूल्य निर्धारण केन्द्र का विषय है। राज्य सरकारों की इसमें नगण्य भूमिका है। कांग्रेस शासित महाराष्ट्र से कपास उत्पादक किसान अपने राज्य के सरकारी एकाधिकार खरीदी के तहत मिलने वाले कम मूल्यों से बचने के लिए अपनी उपज पड़ोस के तेलुगू देशम् शासित राज्य ले जाते हैं और इसके लिए उन्हें सीमा में तैनात महाराष्ट्र पुलिस को घूस देनी पड़ती है। ये किसान प्रधानमंत्री के भोले-भाले वक्तव्यों पर हंसते होंगे।

२— महाराष्ट्र के किसानों के सामने यह गाजर उन्होंने लटकाया कि यदि राज्य में एक स्थिर कांग्रेस सरकार सत्ता में आती है तो किसानों को लाभकारी मूल्य मिलेंगे। (मुंबई सकाळ, १९ फरवरी १९८५) प्रधानमंत्री की बदनियत इससे स्पष्ट हो जाती है।

३— जहाँ प्रधानमंत्री ने निकट भविष्य में किसान को लाभकारी मूल्य—प्राप्त होने के लिए एक नयी योजना की घोषणा करने का वायदा

किया, वहाँ उन्होंने यह नहीं स्वीकार किया कि आजादी के बाद से अब तक की सरकारों ने ठीक उल्टी दिशा में कोशिश की थी।

श्री सी. सुब्रह्मण्यम् के शब्दों में,

“भारत की कृषि किसानों के लिए घाटे का सौदा था। उसको अपने श्रम के मुताबिक या लागत के मुताबिक आय प्राप्त नहीं हुआ। इसका प्रमुख कारण आजादी के बाद अपनायी गयी मूल्य नीति थी जो दूसरे महायुद्ध के समय अपनायी गई रणनीति का अवशेष था..... सरकारी खरीद स्वयं..... एक क्रूर प्रक्रिया थी..... जो मूल्य निर्धारित किये गये वे उत्पादक के वनिस्पत उपभोक्ता के पक्ष में थे।”

श्री राजीव गांधी एक ही स्वर में किसानों को लाभकारी मूल्य देने और इन्दिरा गांधी शासन की नीतियों को बरकरार रखने की बात नहीं कह सकते हैं।

४- कृषि उपजों के मूल्यों के सम्बन्ध में और कृषि मूल्य आयोग के सम्बन्ध में किसान आन्दोलन द्वारा उठायी गयी मांगों का उल्लेख तक नहीं करना यह साबित करता है कि प्रधानमंत्री महत्त्वपूर्ण नीति परिवर्तन की जगह चुनावी दौंवपेच कर रहे हैं।

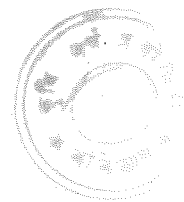
५- कृषि में लगायी जाने वाली वस्तुओं की कीमतें कम करने का प्रधानमंत्री का इरादा स्वागतार्थ हैं। इस तरीके से कृषि उपजों के दामों में वृद्धि किये बिना किसानों को लाभकारी मूल्य प्राप्त हो सकते हैं। लेकिन इस बात को ध्यान में रखना होगा कि यह काम सबसिडियों की एक बृहद् प्रणालि से ही संभव है, जिसके अन्तर्गत भ्रष्टाचार का पनपना अनिवार्य है। इन सबसिडियों में खर्च होने वाले पैसे का बेहतर इस्तेमाल उपभोक्ता के गरीब तबकों को सबसिडी देने के लिए किया जा सकता है।

६- बिहार की अपनी सभा में प्रधानमंत्री ने किसानों के जीवन स्तर पंजाब और हरियाणा के किसानों के जीवनस्तर तक उठाने की बात कही। (इण्डियन एक्सप्रेस, १८ फरवरी १९८५)। जहाँ यह सच हैं कि पंजाब और हरियाणा की हरित क्रांति से कृषि उत्पादन में महान वृद्धि हुई हैं, लेकिन इसका फायदा किसानों को नहीं, व्यापारियों और उपभोक्ताओं को हुआ है। वहाँ किसानों के अर्थिक शोषण पर कई अध्ययन उपलब्ध हैं। इसमें जोल कमेटी की सुप्रसिद्ध रपट भी शामिल हैं जिसे गोपनीय रखना सरकार ने आवश्यक समझा है। यदि प्रधानमंत्री मानते हैं कि गेहूँ, धान और गन्ने के वर्तमान मूल्य अलाभकारी हैं, तो यही निष्कर्ष निकलता है कि पंजाब और हरियाणा के किसान गम्भीर आर्थिक संकट में हैं। प्रधानमंत्री को

यह मालूम होना चाहिए कि पंजाब में अशान्ति का मूल कारण वहाँ के किसानोंका बढ़ता आर्थिक दीवालियेपन हैं। स्पष्ट है कि प्रधानमंत्री “ फूट डालो और राज करो” की नीति अपना रहे हैं।

विश्वसनीयता स्थापित करो

यदि प्रधानमंत्री लाभकारी मूल्यों की समस्या का समाधान ढूँढने के प्रति गम्भीर होते तो वे उसे अपने फीके दस सूत्री कार्यक्रम में शामिल करते। उनके हाल के वक्तव्य निश्चित रूप से महाराष्ट्र राज्य चुनावों में शेतकरी संघटना द्वारा लाया गया दबाव के उपज हैं। यदि प्रधानमंत्री चाहते हैं कि खुद पर विश्वास किया जाये तो उन्हें तुरन्त मूल्य निर्धारण प्रणालि में परिवर्तन लाने की प्रक्रिया शुरू कर देना चाहिए। साथ ही जब तक मूल्य निर्धारण की नयी प्रणालि स्थापित नहीं होती है तब तक कृषि उपजों के दामों में, मूल्य सूचकांकों में हुई बढ़ोत्तरी को आधार मानकर, अन्तरिम वृद्धि की घोषणा करनी चाहिए।



पूर्वप्रकाशन : मजदूर किसान नीति
१-३१ मार्च १९८५

खेती संबंधी सभी कर्ज अनैतिक

किसी भी धंधे में पूँजी के अभाव की सामाजिक बाधा को दूर करने के लिए कर्ज लिया जाता है। पूँजी के खर्च के लिए आवश्यक दीर्घावधि का कर्ज हो, उत्पादकता बढ़ाने के लिए आवश्यक मध्यावधि का कर्ज हो या स्वल्पावधि का कर्ज हो, इन सभी किस्म के कर्ज को देते समय मूल तौर पर यह सोचा जाना चाहिए कि धंधे में जो फायदा होगा उसके द्वारा कर्जदार एक निश्चित अवधि के अंदर कर्ज से मुक्ति ा सकेगा।

खेती के लिए आवश्यक कर्ज देते समय सब से पहले जिस बात पर विचार होना चाहिए वह है खेती की कर्जयोग्यता। आजादी के बाद से अब तक खेती के लिए कर्ज व्यवस्था विषय पर दो दर्जन से अधिक दस्तावेज, सैंकड़ों अध्ययन एवम् प्रबंध प्रकाशित हुए। मजे की बात यह है कि एक भी विद्वान ने खेती की कर्जयोग्यता का उल्लेख तक नहीं किया है। ग्रामीण क्षेत्र को कर्ज उपलब्ध कराना नलद्वारा पानी उपलब्ध कराने जैसा है। यह मानकर तज्ञों ने पाईप लाईन के जाल को बिछाने के विभिन्न तरीकों का सुझाव दिया है।

इन्हीं सिफारिशों के आधार पर ग्रामीण क्षेत्र में कर्ज उपलब्ध कराने के लिए सहकारी व सरकारी क्षेत्रों में साम्राज्य स्थापित किये गये। अनेक भद्र लोगों ने अपनी-अपनी तकदीर बना ली। अपनी राजनैतिक ताकत के कारण कर्ज वापसी को वे आसानी से टाल गये। केवल खेती पर निर्भर लोगों को कर्ज वापस करना असंभव ही था। इस स्थिति में एक तरफ अधिकारी तज्ञ कहने लगे कि किसान कर्ज डुबानेवाला है, उससे जोर-जबरदस्ती से कर्ज वापस लिया जाना चाहिए, तो दूसरी ओर राजनैतिक स्टंटबाज 'कर्ज माफी' जैसी सस्ती लोकप्रियता की योजनायें सामने रखने लगे।

शेतकरी संघटना ने जो विचार रखे उन्होंने विकास के अर्थशास्त्र को हिला दिया। गरीबी की जड़ खेती में है। खेती में घाटा ही घाटा है

क्योंकि खेती घाटे में रहे यह सरकार की नीति है। औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक पूँजी निर्माण करने के लिए खेती का जानबूझकर शोषण किया जा रहा है।

विभिन्न शासकीय दस्तावेजों और तज्ञों का हवाला देकर शेतकरी संघटना ने अपना यह विचार सिद्ध कर दिया है। कम फसल के वक्त लेव्ही, अधिक फसल के वक्त खेती माल का खुला नीलाम। विदेशों से बड़े-बड़े भावों पर खेती-माल का आयात कर देश के अन्दर उसी माल की कीमतों को गिराना, खेती माल के निर्यात पर अनुचित बंधन, आंतरराष्ट्रीय मुद्रा बाजार में रुपये का मूल्य अतिशयोक्त रखना, खुल्लम खुल्ला खेती के खिलाफ नीति अपनाना ऐसे अनेक मार्गों से सरकार कृषि क्षेत्र का शोषण कर रही है यह संघटना ने सिद्ध कर दिया है। इसी शोषण की नीति के कारण देश का विकास कुठित हो गया है। देश की गरीबी दूर करने के लिए असल में कुछ भी करने की जरूरत नहीं है, गरीबी बनी रहे और बड़े, इसके लिए जो प्रयास चल रहे हैं उन्हें बन्द कर दें तो भी गरीबी दूर हो जायेगी। यह विचार लाखों किसानों को ठीक लगा और वे रास्तों पर उतर आये, पूरे देश में इस नये विचार ने एक आँधी खड़ी कर दी।

इन विचारों के प्रकाश में खेती के लिए कर्ज उपलब्ध कराने की जो व्यवस्था है उसकी जाँच करना उपयोगी सिद्ध होगा।

(१) खेती धंधा अलाभकर है इसका एहसास श्री व्ही. टी. कृष्णमाचारी से सी. सुब्रह्मण्यम तक सब को था। २८ दिसम्बर १९८१ को आज के खाद्यान्न मंत्री श्री राव बीरेंद्रसिंह ने कबूल किया था कि उत्पादन खर्च का हिसाब लगाते समय कृषि मूल्य आयोग ने व्यवस्थापन का खर्च, औजारों का खर्च, आवागमन का खर्च, फसल डूबने आदि का खर्च उसमें जोड़ा नहीं है।

मतलब यह कि खेती के इतने महत्वपूर्ण खर्चों को हिसाब में शामिल नहीं किया जाता व इस तरह किसान को घाटा होता है यह परोक्ष तौर पर उन्होंने कबूल किया। फिर कर्ज उपलब्ध कराते समय खेती अलाभकर धंधा है यह क्यों नहीं ध्यान में रखा जाता?

(२) कृषि मूल्य आयोग का उत्पादन खर्च का हिसाब ठीक भी मान लें तो भी आयोग ने जो साडे बारह प्रतिशत लाभ की दर मानी है वह किसी भी व्याज की दर से कम है। अतः किसान के कर्ज वापस कर सकने की संभावना ही नहीं है।

(३) किसान कर्ज लेने योग्य नहीं है यह जानकर भी कुछ किसानों

को और अधिक कर्ज उपलब्ध कराने का मतलब क्या है? खेती का हमेशा शोषण ही करते रहे तो खेती व्यवसाय नष्ट हो जाएगा और देश को आवश्यक कच्चा माल भी कम पड़ेगा अतः खेती को अलाभकर रखते हुए उत्पादन बढ़ाते रखने की नीति सरकार ने अपनायी है। इसके लिए जिन किसानों के पास पानी की सुविधा हैं उन्हें अनुदान देकर तथा अन्य तरीकों से उत्तेजन देकर उत्पादन बढ़ाने की चाल सरकार ने चली है। निजी बैंक 'इण्डिया' के इन रावसाहेब, रावबहादुरों को केवल खेती के आधार पर कभी भी कर्ज न देते। राष्ट्रीयकृत बैंकों तथा अन्य संस्थाओं द्वारा दिए गये कर्ज वापस नहीं होंगे यह कम से कम इस नीति को लागू करने वालों को निश्चित तौर पर पता है।

(४) रावसाहेब—रावबहादुरों को खुश रखें तो भी नीचे का शोषित किसान शोषण के खिलाफ खड़ा रहने का खतरा बना रहता है। इस खतरे को टालने के लिये दुर्बल घटक, आदिवासी, अपंग घटकों को कागजी तौर पर 'कर्ज' कहलाने वाले दान देने की नीति को सरकार ने अपनाया है।

(५) व्यावसायिक तौर पर यदि खेती किफायती होती तो खेती को कर्ज उपलब्ध कराने के लिए इतने दस्तावेजों और अध्ययन की तथा कृत्रिम व्यवस्था बनाने की आवश्यकता ही नहीं होती। खेती में यदि लाभ होता तो उस लाभ में हिस्सा लेने के लिए विभिन्न संस्थाएं खुद ही कर्ज देने के लिए आगे आतीं।

(६) किसानों की गरीबी और कर्ज उपलब्ध कराने का बाजार तरीका नेताओं की सबसे बड़ी पूँजी है। जिस दिन किसान की छाती से कर्ज का बोझ उतरेगा उस दिन से ग्रामीण राजनीति का रंग ही कुछ और होगा। १९८०-८१ में गन्ने को २००/- रुपये प्रति टन मिलने का राजनीति पर क्या असर हुआ यह सर्वविदित है। १९८१-८२ में खेती उत्पादन के भाव मिटाने के लिये सरकार ने जो प्रयास किये वे किसान कर्ज मुक्त हो जायेगा इस भय से ही। कर्ज उपलब्ध कराने के लिए बनाई गई संस्थाओं में स्थानीय नेतागण को बिठाकर राजनैतिक पकड़ मजबूत हो सकती है और वे नेतागण भी खुश हाल बनते हैं।

(७) कर्ज वापस न करने वाले किसान के घर के सामने खाली डिब्बे बजाना, उसके घर का सामान जब्त करना, जमीन नीलाम करना, खेती माल बेचकर मिले पैसे का ४०% हड़पना आदि सामान्य बातें हैं। इन तौर-तरीकों को 'इण्डिया' के नागरिक कभी भी सहन नहीं करेंगे लेकिन 'भारत' के किसान को यह हर रोज सहना पड़ता है।

(८) किसान पर यह आरोप है कि खेती के लिए लिया गया कर्ज वह शादी-ब्याह के लिए इस्तेमाल करता है। किसान के श्रम-मूल्य का आकलन करते समय उसमें शादी-ब्याह जैसे सामाजिक तौर पर आवश्यक खर्च को नहीं गिना जाता। यही कारण है कि कर्ज का उपयोग शादी-ब्याह जैसे कामों के लिए होता है। शासन की दुष्ट नीति का ही यह परिणाम है।

(९) १९८०-८१ में महाराष्ट्र के किसानों ने दिखा दिया था कि उचित मूल्य मिलने पर सब से पहले वे कर्ज वापसी की ओर ध्यान देते हैं। उस साल आजादी के बाद पहली बार गन्ने की फसल के लिए दिये गये कर्ज की वापसी हुई। जिस, बैंक में ढाई लाख रुपयों की कर्ज वापसी बड़ी मुश्किल से होती थी वहां किसानों ने खुद खडे होकर साढ़े तीस लाख रुपये जमा किये। इसके बावजूद 'इण्डिया' का यह 'आरोप' कि किसान कर्ज ढुबाता है उसकी दुष्ट बुद्धि को ही दर्शाता है।

(१०) भारतीय कानून के अनुसार यदि कर्जदाता जान बूझकर ऐसी योजना बनाता है कि कर्जदार का धंधा अलाभकर रहे और वह कर्ज वापस ही न कर पाये तो उन दोनों के बीच का कर्ज का करार अनैतिक है और उसे रद्द किया जाना चाहिए। सरकार की खेती के शोषण की नीति अब साफ जाहिर है अतः किसान शासकीय (सहकारी भी) संस्थाओं द्वारा दिया गया कर्ज अनैतिक है यह दावा करते हुए कर्जमुक्त होने की एक तरफा घोषणा कर सकते हैं। यह घोषणा कानूनी तौर पर व नैतिक तौर पर पूरी तरह समर्थनीय है।

पूर्वप्रकाशन : मजदूर किसान नीति
१-३० अप्रैल १९८५

१४.

२१ वीं सदी में किसान

प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी द्वारा देश को २१ वीं सदी में ले जाने की घोषणा के साथ ही जहां तहां २१ वीं सदी में देश की स्थिति क्या होगी इसकी कल्पनारम्य चर्चा शुरू हो गई।

शहर के भद्र लोगों में तो यह चर्चा बहुत जोर-शोर से होती है। अखबारों, मासिकों में भी यह चर्चा जारी है। २१ वीं सदी में लोग कैसे रहेंगे? कैसे दिखेंगे? कैसे काम करेंगे? गृहिणियां घर कार्य के लिये किन-किन उपकरणों का इस्तेमाल करेंगीं? कपड़े धोने की मशीन, बर्तन साफ करने की मशीन, खाना बनाने के लिए मशीन, झाड़ू लगाने के लिए मशीन? सुबह आफिस जाने के पहले केवल कुछ बटन दबाने होंगे, लौटते तक सारा गृह-कार्य निपटाकर यह मशीनी नौकर पूरा खाना परोसकर तैयार रखेगा।

कारखानों, कार्यालयों सब जगह आधुनिक मशीनें होंगी और उन्हें चलाने के लिए कम्प्यूटर। आजादी के बाद आधुनिक विज्ञान और तकनीक का नाम लेकर जिन पंडित जवाहर लाल नेहरू ने औद्योगीकरण का दरवाजा खोला उन्हीं का नाती अब तीन पीढ़ियों के बाद के विज्ञान और तकनीक को लाने की कोशिश कर रहा है।

देहातों के किसानों में चाहे वे मालिक हों या मजदूर, इस आने वाले नये शतक के बारे में कोई उत्सुकता नजर नहीं आती। समय अपने-आप व्यतीत होता रहता है। एक के बाद एक साल गुजरते हैं, सदियां गुजरती हैं। बीसवीं सदी आयी और अब उसके खतम भी होने का समय आ गया। २१ वीं सदी भी आयेगी। इन बचे १५ वर्षों में राजीव गांधी कुछ न करें तो भी २१ वीं सदी तो आयेगी।

लेकिन देहातों ने ऐसी अनेक सदियों का आना-जाना बड़ी तटस्थता से देखा है। समय के साथ लूटने वाले बदले, उनकी वेशभूषा, उनके औजार बदले। दिन दहाड़े फसल काटकर ले जाने वाले लुटेरे बदले।

राजा-महाराजा आये। दाढ़ी वाले आये और गये। गोरे गये, काले आये। लुटेरों के हाथ में लाठी की जगह तलवार आयी, तमंचे आये, बन्दूकें आयीं और गयीं। उनकी जगह तराजू ने ली।

गांव जहां थे वहीं रहे। १८८३ में महात्मा जोतिबा फूले ने अपनी किताब 'शेतकऱ्यांचा असूड' में आठ बैलों के मालिक के घर की स्थिति का वर्णन किया है। १९८३ में भी हालत वही है। फिर १९८३ के बाद सत्तरह सालों के याने २००० वर्ष तक क्या चमत्कार होने वाला है? २१ वीं सदी के आगमन के सम्बन्ध में देहात उदास हैं। जो कल की रोटी की चिंता में ही घुल रहा है वह २००० वर्ष के बारे में कैसे सोच सकता है।

आजादी के बाद के ३५ वर्षों में दुनिया काफी बदल गयी है। बम्बई में ६-७ मंजिलों की इमारतों की जगह ४०-४० मंजिलों के गगनचुम्बी भवन बन गये। उस जमाने एकाध फोर्ड गाड़ी नजर आती थी, अब मधुमखियों का छत्ता टूटने पर होने वाली स्थिति है। अनेक आकारों और विविध रंगों की कारें नजर आती हैं। शहरों में लोगों की हर चीज बदल गयी है। उनके घरों में प्रवेश मिलना ही मुश्किल है। लेकिन दूरदर्शन पर किसानों को ये सब चीजें देखने अवश्य मिलते होंगे। नित नये फैशन के कपड़ों में सजे धजे लोगों को देखकर इण्डिया और भारत के बीच की खाई भयानक रूप से महसूस होती है। टी. वी. की मुलायम जिन्दगी देखकर किसानों के बच्चों के मन में गुस्से की लहर पैदा होती होगी।

आजादी के बाद के ३५ वर्षों में गांव से एक ही नयी चीज ने कुछ हद तक प्रवेश किया। वह है रेडियो ट्रांजिस्टर। अगले १५ सालों में शायद बहुत सस्ता कोई कम्प्यूटर किसानों के घरों में पहुंचेगा। कहा जाता है कि उ. प्र. के मुख्यमंत्री श्री नारायण दत्त तिवारी ने दावा किया है कि थोड़े ही समय में किसान के हल पर कम्प्यूटर नजर आयेगा। शायद आये भी। लेकिन किसान की टूटी-फूटी झोपड़ी, फटे-पुराने कपड़े, हजारों वर्ष पुराना हल इनमें फर्क नहीं आयेगा। २००० वें साल तक किसानों की जिन्दगी में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने लायक वैज्ञानिक खोजें हो सकती हैं, मौसम के बारे में सही-सही जानकारी मिल सकती है और शायद मौसम में परिवर्तन भी लाया जा सकेगा, गाय-भैसों को बछड़े पैदा न हो लेकिन फिर भी दूध मिलता रहे ऐसी भी व्यवस्था हो सकती है, और अधिक उत्पादन क्षमता वाले बीज मिलने लग सकते हैं, और उन्हें कम्प्यूटर का बटन दबा कर बोया भी जा सकता है, लेकिन प्रातर्विधि के लिए किसान की मां-बहनों को फिर भी लोटा लेकर सड़क के किनारे ही बैठना होगा

यह निश्चित है।

२००० वें वर्ष में किसान की हालत कैसी होगी?

पहली बात यह कि देश कृषि प्रधान नहीं रहेगा। वैसे तो आज भी हमारा देश कृषि प्रधान नहीं है। १९६० तक देश के कुल उत्पादन का ५०% खेती में होता था, १९८३ तक यह प्रतिशत ३३% तक घट गया। बिजली, पानी, रेल्वे, डाक, बैंक, शासन आदि सेवाओं का उत्पादन कृषि से अधिक है (४०%)। इसके विपरीत खेती पर निर्भर लोगों का प्रतिशत १९६० में ७४ था, वह अब कम हुआ है, लेकिन कितना? केवल ३% से। आज जनसंख्या का ७१% किसान है लेकिन दिनरात एक कर काम करने के बावजूद उसके उत्पादन की कीमत ३३% है।

२००० वें वर्ष में देश की जनसंख्या लगभग १०० करोड़ होगी। इन १०० करोड़ में से केवल २० करोड़ शहरों में (याने एक लाख से ऊपर जनसंख्या वाली जगहों में) होंगे। अन्य शहरों में १० करोड़ तथा बचे ७० करोड़ फिर से देहातों में ही रहेंगे। खेती का उत्पादन (की कीमत) राष्ट्रीय उत्पादन का केवल २०% होगा।

आज ७० करोड़ लोगों के लिए १६ करोड़ टन अनाज पैदा किया जा रहा है। मतलब प्रति व्यक्ति ६०० ग्राम अनाज। प्रति व्यक्ति लगभग इतना ही अनाज पैदा करना हो तो २००० वें वर्ष तक २१ करोड़ टन अनाज पैदा करना होगा। १९७१ से १९८४ के दौरान अनाज उत्पादन में सर्वाधिक तेज बढ़ौत्री (११ करोड़ से १५ करोड़ टन) हुई। यदि इसी गति से बढ़ौत्तरी हुई तो भी २००० वें वर्ष तक कुल उत्पादन ११ करोड़ टन से ऊपर जाना नामुमकिन है।

१९७१ में साढ़े बारह करोड़ हैक्टेयर जमीन पर खेती होती थी। उसके बाद से इस आँकड़े में कोई फर्क नहीं आये है। इसका अर्थ यह हुआ कि खेती लायक सभी जमीन को इस्तेमाल में लाया जा रहा है। अतः और अधिक जमीन पर खेती कर उत्पादन बढ़ाना अब असंभव है।

खेती लायक जमीन पर बीज, खाद, दवाइयाँ आदि का नये तकनीक द्वारा उत्पादन बढ़ाना अब अधिक संभव नहीं। खेती में मौलिक परिवर्तन लाना होगा, सधन खेती की शुरुआत करनी होगी। इसके लिए बड़े पैमाने पर पूंजी लगाने की जरूरत है। आज खेती की जो आर्थिक स्थिति है उसे देखते हुए नहीं लगता कि किसान खुद पूंजी लगाने को तैयार होगा।

गत दो-तीन दशकों में कृषि उत्पादन की बढ़ौत्तरी अत्यधिक

कम पूंजी के आधार पर हुई है। १९६० से १९८० के बीच नहरों द्वारा सिंचित जमीन ८२ लाख हैक्टेयर से बढ़कर १४३ लाख हैक्टेयर तक पहुंच गई। लेकिन कुल सिंचित भूमि का प्रतिशत ३७% ही बना रहा। इसका मतलब यह हुआ कि सिंचित भूमि में वृद्धि कुओं आदि द्वारा सिंचाई के कारण ही हुई। कुओं से सिंचित भूमि का प्रतिशत २१ से बढ़कर ४३ हो गया। (८३ लाख हैक्टेयर से १६४ लाख हैक्टेयर)। इस तरह १९८० तक खेती की जानेवाली भूमि का केवल ३१ प्रतिशत (४०५ लाख हैक्टेयर) ही सिंचित किया जा सका। विशेषज्ञों का कहना है कि चाहे जो हो जाय सिंचित भूमि का आकार ११०० लाख हैक्टेयर से अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता है।

असल में सिंचित भूमि का आकार बढ़ने की जगह कम होने का खतरा है। सैकड़ों वर्षों से भूमि के गर्भ में छुपे पानी को कुएं खोदकर, पंप लगाकर बाहर निकाला जा रहा है। सिंचित भूमि बढ़ रही है ऐसा महसूस हो रहा है, लेकिन अब कुंओं का पानी तेजी से घट रहा है। बहुत से कुयें सूख रहे हैं। महाराष्ट्र के ३५००० गांवों में से लगभग आधे गांवों में पीने का पानी उपलब्ध होना एक समस्या बनती जा रही है। पानी का टैंकर यहां-वहां दौड़ा कर यह समस्या हल नहीं हो सकती। धरती अधिकाधिक पानी सोखे ऐसी कोई व्यवस्था करनी होगी। अन्यथा महाराष्ट्र का एक बड़ा हिस्सा रेगिस्तान बन जायेगा।

नहरों द्वारा सिंचित जमीन में क्षारों की मात्रा बढ़ने की संभावना है। आनेवाले वर्षों में आज की नहरें और बांध अनुपयोगी साबित हो सकते हैं।

अभी खेती में ४० लाख टन नाइट्रोजन तथा १४ लाख टन पोटाश का इस्तेमाल होता है। २००० वें वर्ष में १६ करोड़ टन अनाज पैदा करना हो तो १ करोड़ टन नाइट्रोजन और ३० लाख टन पोटाश की जरूरत होगी। भूगर्भ में पेट्रोलियम के भण्डार तेजी से घट रहे हैं। खेती के लिए आवश्यक उपरोक्त खादों के लिये आवश्यक नाफ्था इतने बड़े पैमाने पर मिलने की संभावना न के बराबर है।

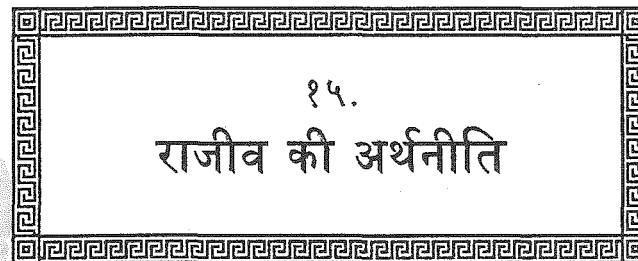
इतनी कठिण स्थिति के बावजूद यदि कोई खेती करता है तो सरकार की दुष्ट नीति के कारण उचित दाम नहीं मिलेंगे और किसान एवं खेतिहर मजदूर दोनों डूबेंगे। जमीन के और छोटे टुकड़े होंगे। सारांश, किसान और टूटता जायेगा।

२००० वें वर्ष का किसान ऐसा होगा। सरकार की नीतियों में

परिवर्तन आने की संभावना नहीं। राजीव गांधी की सरकार शहरी तानाशाही को तेजी से बढ़ा रही है। शेतकरी संघटना को और उसके आन्दोलनों को कुचलने की तैयारियां चालू हैं। इस स्थिति का मुंह तोड़ जवाब देने की बजाय जाने माने व्यक्ति दिल्ली दरबार में जगह बनाने के लिये दौड़ रहे हैं।

महाराष्ट्र भूमि में फिर एक बार संताजी धनाजी (वीरता के लिए प्रसिद्ध, शिवाजी के दो योद्धा) तैयार करने की ताकत होगी तो ही २००० वें साल का यह भयावह चित्र बदल सकता है।

पूर्वप्रकाशन : मजदूर किसान नीति
१-३ मई १९८५



एक बात तो राजीव गांधी के कट्टर विरोधियों को भी माननी पड़ेगी : पिछले ४२ हफ्तों में नयी सरकार द्वारा की गयी सभी नीतिगत घोषणाओं में एक विशेष तरीके तथा कला का प्रयोग किया गया है। पंजाब और आसाम समझौतों की घोषणा का समय व तरीका ऐसा चुना गया जिससे उसका अधिक से अधिक असर पड़े। ऐसी कला का इस्तेमाल कभी-कभी निजी क्षेत्र के बड़े-बड़े उद्योगपतियों द्वारा तो किया जाता है लेकिन सरकार तो इसी के लिये विख्यात है कि उसके वक्तव्यों और नीति पत्रों को पढ़ना और उनका अर्थ निकालना भी एक टेढ़ा काम होता है। राजनैतिक घोषणाएँ ऐसी होती हैं कि उन्हें आकर्षक ढंग से पेश व प्रसारित किया जा सकता है।

किन्तु अर्थनीति की घोषणाएँ ऐसा कोई हिलाने वाला असर शायद ही कभी डालती हैं, खास करके विशेषज्ञों, प्रोफेसरो व उद्योगपतियों पर। विश्वनाथ प्रताप सिंह ने बजट को भी कम से कम शहरी लोगों में बहस का विषय बना दिया, वह बजट जो अभी तक वार्षिक रस्म अदायगी से अधिक कुछ नहीं होता था। आयात निर्यात नीति, इलाक्ट्रानिक्स नीति व कपडा नीति के प्रपत्र सब के पढ़ने की सामग्री बन गये। लोग आम तौर पर यह महसूस करने लगे कि कुछ बड़ा काम हुआ है।

एक नया ढाँचा

पूँजीपतियों, उद्योगपतियों, व्यापारियों, दलालों तथा पालखीवाला जैसे स्वतंत्र उद्योगों के हिमायतियों ने राजीव गांधी की अर्थनीतियों का इतना जोरदार समर्थन किया है कि ऐसा लग सकता है कि स्वतंत्रता के बाद से चली आ रही आर्थिक नीतियों को उलट दिया गया है, कि राजीव के कदम पंडित जी-इन्दिराजी के प्रकार के 'समाजवादी' नियोजन से

एकदम अलग हैं।

राजीव की तुलना इंग्लैण्ड की प्रधानमंत्री श्रीमती थैचर तथा अमरीका के राष्ट्रपति रीगन से की जा रही है। उत्पादक शक्तियों को केन्द्र में रखना तथा जनकल्याण की कीमत पर उत्पादन के लिए विशेष रूप से सहूलियत देने वाला ऐसा ढाँचा खड़ा करना जैसी बातों को रीगन के आपूर्ति अर्थशास्त्र तथा राजीव की पहल के बीच समानताओं के रूप में देखा जा रहा है।

बजट के पहले प्रधानमंत्री द्वारा दिये वक्तव्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें और उनकी कम्प्यूटर टीम के पास नये कार्यक्रमों और नयी नीतियों की एक सम्पूर्ण दृष्टि है। अगर ऐसा है तो यह मानना पड़ेगा कि उन्होंने उस दृष्टि को अभी तक गुप्त ही रखा है। नयी नीति के दर्शन और अर्थशास्त्र से सम्बन्धित कोई सरकारी वक्तव्य अभी तक नहीं हैं। कांग्रेस (इ) के चुनाव घोषणा पत्र में किसी बड़े नीति परिवर्तन का संकेत नहीं रहा। बजट में भी नीति का वर्णन ही वर्णन है, उसके पीछे की सोच पर कोई प्रकाश नहीं है। अखिल भारतीय कांग्रेस (इ) कमेटी ने अपने दिल्ली सत्र में विशेष रूप से यह घोषणा की कि कोई बड़ा परिवर्तन नहीं किया गया है तथा सरकार की आर्थिक नीतियों और कार्यक्रमों का लक्ष्य 'समाजवाद' ही है। राजीव गांधी ने भी बार-बार यही कहा है कि उनकी सरकार परिवर्तन और निरंतरता दोनों में ही विश्वास करती है तथा यह कि मूल नीतियां जवाहरलाल और इन्दिराजी द्वारा बनायी गयी थीं व ऐसे ही सुधारों का प्रयत्न किया जा रहा है जो परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ आवश्यक हो गये हैं।

तो तथ्य क्या है?

१- क्या अभी तक की गयीं नीतियों की घोषणाएँ

पंडितजी-इन्दिराजी धारा से महत्वपूर्ण अर्थों में अलग हैं?

२- ये फर्क वास्तव में क्या-क्या है?

३- क्या ये नयी नीतियाँ किसी तर्कसंगत, एकीकृत पूर्ण का अंग हैं?

४- इन नीतियों के आर्थिक नतीजे क्या होंगे, खास करके गरीबी उन्मूल पर?

ये सवाल नजदीक से परखे जाने चाहिये।

क्या यह भिन्न है?

नीति वक्तव्यों को एक बार सरसरी निगाह से पढ़ने पर भी ऐसा

लगता है कि अंतर है। यह निश्चित ही पिछले ३८ साल का लाइसेन्स-परमिट वाला तरीका नहीं है। अंतर नीचे दिये गये उदाहरणों से स्पष्ट है।

(१) इलेक्ट्रानिक्स

१९८३ के पहले की सरकारी नीति इलेक्ट्रानिक्स उद्योग में स्पष्टतः छोटे कारखानों को प्राथमिकता देती थी। बड़ी कम्पनियों पर काफी पाबंदियाँ थीं जैसे उन्हें एक साल में पांच से ज्यादा कम्प्यूटर बेचने की इजाजत नहीं थी यदि कीमत तीन लाख से ज्यादा हो रही हो तो। कुल वार्षिक उत्पादन पर ३ करोड़ रुपये की ऊपरी सीमा थी। तकनीकी के आयात की मनाही थी तथा ५ लाख या उससे ज्यादा कीमत के कम्प्यूटर किसी सरकारी विभाग के मारफत ही खरीदे जा सकते थे। शुरू से अन्त तक लाल फीताशाही थी जिसका कम्प्यूटर और इलेक्ट्रानिक्स विरोधी रुझान छिपा नहीं था। नयी नीति औद्योगिक विकास पर नियंत्रण नहीं बल्कि उसके बढ़ावे की नीति है। यह औद्योगिक उत्पादन की ऊपरी सीमा पर नहीं बल्कि निचली सीमा पर जोर देती है। तथा भौतिक नियंत्रण के स्थान पर वित्तीय नियंत्रण पर विश्वास प्रदर्शित करती है। इसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय दबाव होना चाहिये व खुले द्वार की नीति अनुसरणीय है।

(२) कपड़ा

कपड़ा उद्योग देश के सबसे पुराना और सबसे विस्तृत उद्योग है तथा सालों से बीमार अवस्था में है। १९ वीं सदी के उपनिवेशवाद और २० वीं सदी के स्वतंत्रता आन्दोलन दोनों में ही कपड़ा उद्योग का महत्वपूर्ण स्थान रहा और इसे सरकारी बचाव तथा स्वदेशी आन्दोलन दोनों से ही लाभ मिला। चरखा उस वक्त की राष्ट्रीय कांग्रेस के आर्थिक दर्शन का प्रतीक था। जबकि नेहरू-महालानोबिस अर्थनीति का प्रतीक अम्बर चरखा बना। नतीजा यह है कि १९५१ में प्रति व्यक्ति ११ मीटर सूती कपड़ा उपलब्ध था जो बढ़कर १९६५ में १४.७ मीटर हो गया और तबसे जो घटता चला गया है तो १९८३ में सिर्फ ९.८ मीटर रह गया। मनुष्य निर्मित धागों से बने कपड़े जिनकी प्रति व्यक्ति उपलब्ध मात्रा १९५१ में शून्य थी १९७९ में ४.६ मीटर हो गई, लेकिन तब से इसमें ठहराव आया है, वास्तव में १९८३ तक यह भी घटकर सिर्फ ३.७ मीटर रह गया है। मिलें बंद हो रही हैं, मजदूर सहायता पर निर्भर हैं, कपास उत्पादक बरबाद हैं और जनता वस्त्रहीन है। संक्षेप में यही स्थिति है।

राजीव के हल से उसके पूर्वजों को सदमा पहुँचता। न सुधर पाने

वाली बीमार मिलों को बंद करो, मिलों को आधुनिक बनाओ, अगर जरूरत हो तो मशीनरी का आयात करो। अगर बाजार में बढ़िया कपड़े की मांग है तो मिलें वैसा कपड़ा बनायें। धागों का अनुपात तय करने में उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता हो। हम स्थानीय उत्पादन बढ़ायेंगे और अगर जरूरत हो तो मनुष्य निर्मित धागे आयात करेंगे। उन पर लगने वाला कस्टम कर समाप्त करो। इस तरह बढ़ती जनसंख्या की जरूरत पूरी करने के लिये वे उचित दामों पर अच्छे कपड़ों का उत्पादन बढ़ायेंगे।

(३) बजट १९८५-८६

अपनी समाजवादी किस्म की नीति के अन्तर्गत भारत सरकार ने ऊँची आय वालों की आय में कटौती के प्रयत्न किये तथा श्री चव्हाण के वित्त मंत्रित्व में सबसे अधिक आय वालों की आय पर ९५ प्रतिशत कर लगाया गया। यह काफी पहले ही समझ में आ गया था कि ऐसी कर-नीति का उत्पादन पर बुरा असर पड़ता है तथा कर का भार कम करके काले धन को नियंत्रण में लाने के कुछ प्रयत्न भी हुए किन्तु वे विश्वसनीयता नहीं पैदा कर सके।

वी. पी. सिंह के बजट के इरादे साफ हैं। प्रत्यक्ष व परोक्ष कर दोनों में ही भारी कटौती की गयी, अनिवार्य जमा योजना खत्म कर दी गयी तथा बैंक सूद पर कर भी समाप्त कर दिया गया। करों में इतनी भारी कटौतियाँ इसके बावजूद की गयी हैं कि बजट का घाटा ३००० करोड़ रु. के ऊपर है तथा सातवीं पंचवर्षीय योजना में संसाधनों की इतनी कमी है कि किसी को यह संदेह भी हो सकता है कि सरकार नियोजन के प्रति गंभीर है भी या नहीं।

(४) स्वतंत्रता के समय से राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता को कम से कम सिद्धान्ततः बहुत ऊँचा स्थान दिया गया था। तकनीकी एवं वस्तुएँ आयात करने की अनुमति देने से पहले यह जानकारी विस्तार से प्राप्त की जाती थी कि अपने देश में ही वे चीजें उपलब्ध हो सकती हैं या नहीं। विदेशी मुद्रा कमाने वालों को आयात के लाइसेंस थोड़ी आसानी से मिलते थे। आयात या निर्यात का अर्थ था लाइसेन्स-परमिट के एक पेंचीदे जाल से निपटना।

अब एक झटके में ६७ कच्चे माल की वस्तुओं के आलावा औद्योगिक मशीनरी की २०१ वस्तुएँ खुले आयात की सूची में शामिल कर ली गयी हैं।

राजीव और राजाजी

वे कौन सी बातें हैं जो राजीव नीति को एक अलग नीति के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं?

(१) ऐसा लगता है कि पहली बार औद्योगिक निजी क्षेत्र को सभी चीजों के केन्द्र में रखा गया है। सार्वजनिक क्षेत्र की अगुआकारी भूमिका के सपने खत्म हो गये हैं। इस बात की स्पष्ट अनुभूति है कि निजी क्षेत्र का एक महत्त्व का स्थान है तथा वही औद्योगिक विकास की आशाओं को मूर्तरूप देने का सब से प्रभावी साधन है।

(२) निजी क्षेत्र को उसकी कार्यक्षमता के चलते बढ़ावा दिया जा रहा है। तस्करोँ, मात्र चालाकी व सिफारिश आदि पर चलने वालों तथा उन तमाम लोगों के लिये जिन्होंने सिर्फ लाइसेन्स-परमिट के एक कागज के बल पर पैसा बनाया अब कोई स्थान नहीं है। अब उन लोगों के लिए मौका है जो आधुनिक तकनीक का प्रयोग जानते हैं, अधिक उत्पादकता की क्षमता रखते हैं तथा घरेलू व अन्तरराष्ट्रीय स्पर्धा में टिक सकते हैं।

(३) नौकरशाही की भूमिका में बड़ा परिवर्तन हुआ है। सरकार की भूमिका औद्योगिक विकास को बढ़ावा देने की है, नियंत्रित करने की नहीं। उत्पादन पर ऊपरी सीमा खत्म करके कम से कम कितना उत्पादन आवश्यक है यह निश्चित किया गया है। सरकार अब भौतिक के स्थान पर वित्तीय नियंत्रण पर निर्भर करेगी। इससे नौकरशाही की भूमिका दूसरे दर्जे की हो जाती है।

(४) नियोजन की परम्परागत दृष्टि के केन्द्र में था दुर्लभ संसाधनों का बंटवारा। विदेशी मुद्रा सब से दुर्लभ संसाधन था अतः उसके प्रयोग पर सब से ज्यादा नियंत्रण था। घरेलू उद्योगों ने देश में तथा विश्व में भी एक सुरक्षित बाजार में अपना सामान बेचकर मुनाफा कमाया तथा तकनीकी या कार्यक्षमता के सुधार में उनकी कोई रुचि नहीं थी।

राजीव की नीतियों ने स्थिति पलट दी है। अब यों देखा जा रहा है कि अन्तरराष्ट्रीय स्पर्धा घरेलू उद्योगपतियों पर कार्यक्षमता व उत्पादकता बढ़ाने के लिये एक जायज दबाव का काम करती है। इन फायदों में उदार आयात का खास औचित्य है।

(५) अगर निजी क्षेत्र के किसी विशिष्ट हिस्से से औद्योगीकरण की प्रमुख आशा हो तो जाहिर है ऐसे क्षेत्र को चूस कर संसाधन अक्षम क्षेत्रों में फालतू खर्च के लिये बाँटने के नतीजे उलटे ही होंगे। ज्यादा जमा करने का पागलपन समाप्त हो गया है। अब यह माना जा रहा है कि अधिक कार्यक्षमता के क्षेत्रों में संसाधन बने रहने के अधिक लाभ हैं। करों

की दर कम करने के पक्षधर अपना तर्क, कि इससे कुल एकत्रित मात्रा में वृद्धि होगी, शायद बहुत गंभीरता से खुद भी नहीं लेते।

(६) महात्मा गांधी के काल की अवशेष रूप उपभोक्ता संस्कृति के प्रति नैतिक और पाखंडी दृष्टि को त्याग दिया गया है। जबकि अपार ग्रामीण समुदाय गरीबी में जीवन-यापन कर रहा हो, शहरी अभिजात वर्ग से यह अपेक्षित था कि कम से कम सार्वजनिक तौर पर दिखावे का उपभोग न करें। टेलिविजन, घरेलू यंत्र, विलासी वस्त्र, रंगीन मोटर गाड़ियाँ व शराब आदि की वरीयता के क्रम में काफी नीचे रखा गया था।

शहरों के अभिजात वर्ग का बहुमत आज स्वतंत्रता के बाद के काल का है। उन्होंने बड़ी मात्रा में संसाधन जमा कर लिये हैं। विदेश में ये लोग अपने धन का उपयोग तरह तरह के मनोरंजन के लिये कर सकते हैं। भारत में उतने ही पैसे के बावजूद उनके उपभोग के जरिये बहुत कम होते हैं। राजीव गांधी के साथ उपभोक्ता संस्कृति को खुली छूट और प्रतिष्ठा है। अब प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से औद्योगिक संरचना को यों ढाला जा रहा है कि उन आधे प्रतिशत लोगों के अनुरूप उत्पादन हो सके जो बहुत ही गलत अनुपात में एक बड़े पैमाने पर आय, सम्पदा व क्रय शक्ति पर कब्जा किये बैठे हैं।

संक्षेप में राजीव अर्थनीति में नया क्या है? प्रधान मंत्री के इर्द गिर्द रहने वालों को शायद अच्छा न लगे और उनकी पार्टी के लोग शायद विरोध में चिल्लाएँ भी लेकिन सरल शब्दों में कहा जाय तो राजीव की पहल का अर्थ है समाजवादी किस्म के नियोजन का त्याग। इसका अर्थ है नेहरू को त्याग देना और पूरी तरह से वे बातें मानना जिन्हें मनवाने में राजाजी और उनकी स्वतंत्र पार्टी सर्वथा असफल रही थी।

पूर्ण दृष्टि का अभाव

राजीव अपने दादा की तरह कोई दार्शनिक नहीं हैं। उत्पादन और कार्यक्षम शक्तियों को लाइसेंस-परमिट के अत्याचार से मुक्त करके खुली छूट देने का विचार किन्हीं सिद्धान्तों या किसी वाद के चलते नहीं आया है। उनकी पहल का आधार मात्र व्यावहारिकता में है। वास्तव में राजीव सिर्फ उस धारा को मजबूत कर रहे हैं जो इन्दिरा जी के राज के बाद के दिनों में उभर रही थी। संजय द्वारा मोटर उद्योग में इजारे दारी के समाप्त करने का प्रयत्न इसी धारा का प्रतीक था। इलेक्ट्रानिक्स में उदार नीति की शुरुआत १९८३ में ही हो गयी थी। उद्योगपतियों की नयी पीढ़ी वाले धीरू भाई अम्बानी तथा विदेश में रहने वाले स्वराज पाल जैसे लोग

समाजवादी किस्म की सोच की नींव कमजोर करते रहे हैं। पहले भी राजीव के मित्र उद्योगपति, मैनेजर व पुराने राजघरानों के उद्योगों में सफल ऐसे लोग ही रहे। उनके साथ बातों में भारत के भावी प्रधानमंत्री को यह समझ में आया होगा कि जवान अभिजात वर्ग को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। उनकी पत्नी की उदार यूरोपीय पृष्ठभूमि का अपना योगदान भी होगा ही। नतीजा यह है कि राजीव उस नये मध्यम वर्ग की आकांक्षाओं और हितों का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं जिसे यह विश्वास है कि उसके हित और सारे देश के हित एक समान हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है।

लेकिन उससे निकलने वाले निष्कर्ष कि आर्थिक ढाँचे के सब से बड़े हिस्से कृषि के लिए यह मुक्ति और भी आवश्यक है, को नजरअन्दाज कर दिया गया है। अगर समाजवादी किस्म के नियोजन से औद्योगिक उत्पादकता पर उल्टा असर पड़ा है तो कृषि की उत्पादकता पर नेहरूवादी नियोजन के 'नजराना' पहलू का और भी उल्टा असर पड़ा होगा।

वास्तव में स्वतंत्रता के समय से ही नियोजन दो खम्भों पर खड़ा है, एक कृषि उत्पादन में पैदा अतिरिक्त मूल्य से प्राप्त 'नजराना' जो व्यवस्थित तौर पर कृषि उत्पाद के दाम कम रख कर प्राप्त किया जाता है और जिसका इस्तेमाल औद्योगिक पूंजी के निर्माण के लिये किया जाता है तथा दूसरा, पूंजीगत संसाधनों के वितरण की तथाकथित समाजवादी किस्म की नीति। राजीव दूसरे में परिवर्तन ला रहे हैं क्योंकि उनके इर्द गिर्द रहने वालों का ७० प्रतिशत जनता के हितों से कोई ताल्लुक नहीं है।

अगर विज्ञान और तकनीकी, आर्थिक कार्यक्षमता, तथा प्रतिस्पर्धा के गुणों के प्रति राजीव का लगाव असली है तो उन्होंने अपने कार्यक्रम को लागू करना कृषि से शुरू किया होता, इलेक्ट्रानिक्स से नहीं। अगर इजारेदार पूँजी (एम. आर. टी. पी.) की सीमा २० करोड़ रु. से बढ़ाकर एक ही बार में १०० करोड़ रु. की जा सकती है तो भूमि हदबन्दी कानूनों को क्यों नहीं ढीला किया जाता जो अब भूमि के सिर्फ टुकड़े ही नहीं कर रहे हैं बल्कि उसका आणवीकरण कर रहे हैं, या फिर सामूहिक खेती को और आकर्षक क्यों नहीं बनाया जाता जिससे कि उत्पादकता बढ़ाने के लिये विज्ञान और तकनीकी का प्रयोग देश भर में सभी क्षेत्रों में हो सके, सिर्फ चन्द शहरी कारखानों में ही नहीं? कृषि उत्पादन के निर्यात पर की पाबन्दियाँ क्यों नहीं हटा ली जाती तथा घरेलू कीमत से ज्यादा कीमत पर उनका आयात क्यों नहीं बन्द कर दिया जाता?

क्या नयी नीति सफल होगी?

भारत की आर्थिक स्थिति पर राजीव नीति के क्या प्रभाव पड़ेंगे? क्या इससे औद्योगिक विकास को मदद मिलेगी? क्या यह गरीबी दूर करने का साधन बनेगी? वास्तव में नयी नीति की सफलता या विफलता दो घटकों पर निर्भर करती है।

पहला यह कि ऊँची कार्यक्षमता के क्षेत्र में कितनी शक्ति है? क्या ऐसे लोगों, संगठनों और कम्पनियों की संख्या काफी है जो नयी प्रेरणाओं के चलते अपने और देश के हित में उत्पादन में वृद्धि करेंगे? इसमें संदेह के लिये स्थान है। ज्यादातर भारतीय उद्योगपतियों को लाइसेन्स परमिट का राज बहुत नापसन्द था ऐसा नहीं है। वे ऐसी व्यवस्था में फले-फूले हैं जहाँ सरकार से एक कागज मात्र प्राप्त करके बहुत पैसा बनाया जा सकता था। ये लोग, जिन्होंने घर में इजारेदारी और बाहरी प्रतिस्पर्धा से सुरक्षा का फायदा उठाया है, राजीव द्वारा विदेशी स्पर्धा के लिये दरवाजे खोलने का विरोध कर रहे हैं। लेकिन जो नयी नीति का जोर शोर से स्वागत कर रहे हैं उन्हें भी सन्देह की दृष्टि से देखा जाना चाहिये। वे आज खुश हैं क्योंकि उन्हें करों में कटौती तथा अन्य छूट मिली है, चाहे जितना पैदा करने की तथा माल, मशीनरी एवं तकनीकी आयात करने की छूट मिली है। वे जानते हैं कि उनमें वास्तविक उद्यमशीलता नहीं है और यह कि उनकी शैली लुधियाना के कपड़ों के व्यापारियों जैसी है जिन्होंने कपड़े के पुराने टुकड़ों के नाम पर इस्तेमाल किये हुए पश्चिमी कपड़ों का आयात किया और विदेशी वस्तुओं के पीछे पागल शहरी अभिजात वर्ग को उन्हें बेचकर खूब मुनाफा कमाया। उन्हें पता है कि प्रतिस्पर्धा का जीवन कठिन है, दिवालियेपन वाला है। वे आज उदारता का स्वागत कर रहे हैं और पांच से कम वर्षों में सुरक्षा की मांग करने लगेंगे।

दूसरा, क्या नेता और नौकरशाह राजीव नीति की सफलता को भुगतने के लिये तैयार हैं? यह और भी संदिग्ध है। नेताओं और नौकरशाहों का भी लाइसेन्स परमिट राज में उतना ही हित है जितना फायदा उठाने वाले उद्योगपति का। नेताओं का मुख्य काम है सरकारी सुविधाएँ दिलवाने में लोगों और सत्ता के बीच दलाल का काम करना। नयी दिल्ली में हुई अखिल भारतीय कांग्रेस (इं) कमेटी की बैठक में उनका हल्ला यह दिखाता है कि वे अपने पेशे पर आये खतरे को खूब समझ रहे हैं। नौकरशाहों का तो सब से अधिक नुकसान होगा क्योंकि वे

फाइलें आगे बढ़ाने वाले सामान्य क्लर्क बन जायेंगे जिनके हाथ में कोई आर्थिक अधिकार नहीं होते। सिर्फ अपने वेतन के सहारे वे कभी नहीं रहे और नया शासन ठीक वहीं वार करेगा जहाँ सब से अधिक दर्द करता है, बटुआ पर। वे ऐसे अभियान चलवा सकते हैं जिनसे नयी नीतियों में तोड़फोड़ हो तथा यह सामने लायें कि नयी नीति की निर्माता वास्तव में बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ हैं। उनके विरोध का सब से खतरनाक तरीका यह हो सकता है कि वे काम करना ही बन्द कर दें, नियामों वा पूर्वाभ्यासों की आड में छिपे रहें तथा नयी नीति को लागू ही न होने दें।

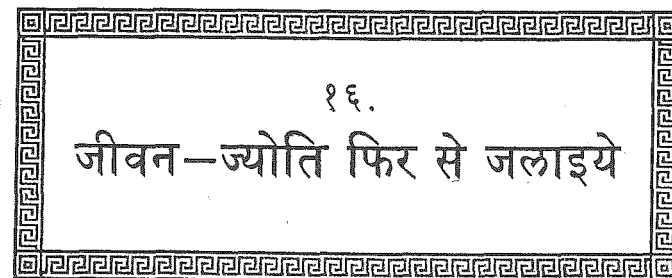
सरकार शायद इस स्थिति से निपटने की तैयारी कर रही है। सरकारी नौकरों को काफी कुछ दिया जा रहा है। उदाहरण के लिये वेतन में वृद्धि, मंहगाई भत्ते की कई किश्तें, आय तथा विलासिता की वस्तुओं पर कर में कटौती तथा दो दिन की साप्ताहिक छुट्टी आदि। दूसरी ओर अनिश्चितता का वातावरण भी जानबूझ कर बनाया जा रहा है। एक रद्दी से जासूसी किस्से को इतना बढ़ाया गया कि कई लोगों को नौकरी से हाथ धोना पड़ा। अफसरों के निलम्बन का अधिकार देने वाला उच्चतम न्यायालय का हाल का निर्णय भी मददगार साबित हो सकता है। लेकिन नेता और अफसर इतनी आसानी से हार मानने वाले नहीं हैं।

गहराता इण्डिया—भारत विभाजन

अगर औद्योगिक विकास पर होनेवाला अनुकूल प्रभाव संदिग्ध है तो राजीव नीतियों का गरीबी पर आनेवाला असर और भी संदेहास्पद है। अगर यह मान भी लिया जाय कि औद्योगिक मोर्चे पर राजीव को भारी सफलता मिलती है तो भी कुल मिलाकर गरीबी पर उलटा असर पड़ने की ही उम्मीद है।

आधुनिकीकरण के माध्यम से राजीव की नीतियाँ औद्योगिक क्षेत्र की कार्यक्षमता बढ़ाना चाहती हैं जिसका अर्थ है लागत—उत्पादन का अनुपात बढ़ेगा। लेकिन और क्षेत्रों में होनेवाले इसके नतीजे को ध्यान में रखा जाय तो भी कुल कार्यक्षमता व देश के कुल उत्पादन या कुल रोजगार पर निश्चित ही प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। क्या राजीव अर्थनीति की सफलता की आशा व्यर्थ नहीं है जहाँ पिछले २८ सालों में नेहरू नीति असफल रही हो। कृषि से प्राप्त नजराना जो गरीबी का मुख्य कारण है वैसे का वैसे बना हुआ है। किसान के प्रति होनेवाला अन्याय बढ़ने की उम्मीद है जैसा कि कपास उत्पादकों के साथ हो रहा है। विज्ञान और तकनीकी की ताबीज का इस्तेमाल जवाहरलाल ने बड़े उद्योगों में बड़े पैमाने पर पूँजी

लगाने के लिये किया। अब उसी ताबीज का प्रयोग उपभोक्ता उद्योगों में पूँजीनिवेश को जायज ठहराने के लिये किया जा रहा है। नीति बनाने वाले सोच रहे हैं कि ऊँची कार्यक्षमता का क्षेत्र देश को सिंगापुर या दक्षिण कोरिया जैसा बना देगा। भारत का शोषण जारी रहेगा तथा इंडिया और भारत के बीच की दूरी नेहरू व इंदिरा के काल की तुलना में और तेजी से बढ़ेगी क्योंकि राजीव की नीतियाँ एक बड़े परिवर्तन की सूचक हैं लेकिन उसी दिशा में।



किसान आंदोलन का नया पर्व २ अक्टूबर १९८५ से आरम्भ हुआ है। एक बार फिर आंदोलन का नेतृत्व करने की जिम्मेवारी किसानों पर आयी है। महात्मा गांधीजी के जन्म दिन से बनावटी कपड़ों अर्थात् राजीवस्त्र की होली जलाने और उसका बहिष्कार करने का संकल्प लिया गया है। यह लड़ाई केवल कपास-उत्पादक किसानों की नहीं है और केवल उन्हें ही नहीं लड़ना है। यह लड़ाई सभी किसानों की है, मजदूरों की है। संक्षेप में, यह लड़ाई देश के गरीबों की है। इसमें पुरुष भी हैं, स्त्रियाँ भी, दलित भी, सवर्ण भी। यह लड़ाई हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख सभी धर्मवालों की है, सभी लोगों की है।

कपास-उत्पादक न होने पर भी इस आंदोलन में क्यों हिस्सा लूँ, अपने ही घर में क्यों न बैठूँ — जो ऐसा कहता है, वह किसान-आंदोलन से घात करता है। किसानों की लड़ाई में सन् १९८० में प्याज साधन था, इस बार कपास है। लेकिन लड़ाई तो सभी कृषि-उपजों के लिए है। कृषि-उपजों के भाव का सवाल सभी किसानों का है। गेहूँ, ज्वार, धान, अरहर, चना, उड़द, प्याज, तम्बाकू, कोई भी उपज क्यों न हो, सब के लिए कीमत मिलने में कठिनाई है। इन सभी उपजों को उचित दाम मिले, दाम मिलने में रुकावटें दूर हों, इसके लिए 'कृषि-मूल्य आयोग' को बर्खास्त किया जाय और उसके स्थान पर 'कृषि लागत आयोग' स्थापित किया जाय यह संकल्प कार्तिकी एकादशी दिन १६ नवम्बर १९८३ को संघटना ने पहली बार पंढरपुर में भगवान विठोबा के चरणों में निवेदित किया था।

उसके बाद अनेक तरह से यह मांग आगे बढ़ाई गई। अर्जी दी

पूर्वप्रकाशन : मजदूर किसान नीति
अक्टूबर १९८५

गई, निवेदन किया गया। जलते हुए पंजाब की अवस्था में भी चंडीगढ़ के राजभवन के घेराव में हजारों किसान एक साथ बैठे, एक साथ जेल गये। महाराष्ट्र में हजारों—हजार की प्रचार—यात्रायें निकलीं। राजनेताओं के लिए 'गांवबन्दी' किया गया। सैकड़ों किसानों को लाठी खाना पडा, जेल जाना पडा। अब चुनाव आनेवाले थे, किसानों के हक में अच्छा शासन मिलने की आशा थी, किन्तु इन्दिरा गांधी की मृत्यु ने सब कुछ विपरीत कर दिया। फिर भी नये प्रधान मंत्री को 'कृषि मूल्य आयोग' का नाम बदलकर 'कृषि मूल्य एवं लागत आयोग' करने की घोषणा करनी पड़ी।

सन् १९८४ में किसानों के 'स्वतन्त्रता-वर्ष' की लड़ाई का उज्ज्वल इतिहास किसी एक किसान का नहीं था, सब का था। अंत में चुनाव हुए। नयी सरकार का निर्माण क्या हुआ मानो किसानों के लिए मरण—काल आ गया। पंजाब—परिस्थिति से उत्पन्न तनाव की गम्भीरता पर सब का ध्यान लगा हुआ देखकर शासन ने गरीबों का गला दबाना शुरू कर दिया। अमीरों की दीवाली शुरू हुई। अमीरों के कर्ज की माफी दी गई, उन्हें खुली छूट मिली, विदेशों से नयी यंत्र—सामग्री लाने की सुविधा दी गई। सरकारी कर्मचारियों की वेतन वृद्धि की गई, करों में छूट मिली, महंगाई भत्ते, नया बोनस, साल में छः महीने की छुट्टी— इस तरह की मनमानी की गई। परन्तु किसानों—मजदूरों के दुःख में कोई कमी नहीं आई।

इन सब के साथ किसानों का गला दबानेवाली वस्त्र—नीति आई। पूँजीपतियों का विदेशों से यंत्र—सामग्री मँगाने की पूरी सुविधा दी गई, बनावटी धागा आयात करने के लाइसेंस दिये गये। अब चमकदार पोलिस्टर और टेरिलीन शहर के बड़े लोगों के शरीर पर शोभायमान हो रहे हैं, वहीं अर्द्धनग्न अवस्था में रहनेवाले लोगों की पीठ पर जो फटे—पुराने कपडे थे, उन्हें भी छीन लेने की तैयारी चल रही है। बनावटी धागे पर रोक होने पर भी पिछले बीस साल में कपास उत्पादकों को उचित भाव मिला नहीं, अब जब बनावटी धागों का खुला आयात होने लगा है, कपास को कौन पूछता है? कपास पैदा करने वाला गया, उसके साथ काम करने वाले गये। उन्हें भाव मिलेगा, केवल ऐसा कहने से भाव मिलता नहीं। लम्बे रेशों वाले वरलक्ष्मी कपास की गाँठे देश में पड़ी हुई हैं, उनका उपयोग देश के कारखानों में नहीं होता। ये 'नया कपडा' पैदा करनेवाले लम्बे रेशे वाले कपास की ओर क्यों नहीं झुके, ये बनावटी कपडों की ओर ही क्यों झुके? विदेशों से बनावटी धागा आयात करने के लिए दरवाजे खोले गये, ऐसे में देश की लक्ष्मी क्यों न बाहर चली जायेगी! यदि उनके मन में कृषि के लिए

उचित मूल्य की बात है तो 'कृषि मूल्य आयोग' के सही पुनर्गठन की दिशा में क्यों नहीं बढ़ते?

राजीव गांधी की वस्त्र नीति महात्मा गांधी के सपनों के स्वतंत्र भारत के ठीक विपरीत है।—

—गांधी जी ने कपास पर जोर दिया, चाहा कि आवश्यकताभर कपडा देश में ही हो। राजीव ने विदेश से आयातित धागों के बनावटी कपडे पहनने की पहल की है।

—गांधी जी आधुनिक यंत्रों के स्थान पर चरखे और हाथ का उपयोग चाहते थे, घर—घर में चरखा चले, ऐसा उनका आग्रह था। राजीव विदेशी ज्ञान और तकनीकी से युक्त यंत्र—सामग्री का आयात कर रहे हैं।

—प्रत्येक मनुष्य के देह पर कपडा हो, यह गांधी जी का सपना था। शहरवालों को चमकदार कपडा क्यों नहीं मिलता, यह राजीव की चिंता है।

गांधी जी का जो स्वातंत्र्य—आंदोलन अधूरा रह गया, उसे ही आगे पूरा करने का लक्ष्य किसान—आंदोलन का है, ऐसा मैंने अनेक बार कहा है। यह वस्त्र—आंदोलन इस बात का सबसे स्पष्ट उदाहरण है। स्वतन्त्रता आते आते नहीं आयी। गोरे अंग्रजों की जगह काले अंग्रजों ने ली। गरीबी बढ़ती रही। भारत पर इंग्लैंड की जगह इंडिया का राज हुआ। इसलिए पुनः एक बार विदेशी और बनावटी कपडों के विरुद्ध आंदोलन करना आवश्यक हो गया है।

राजीव—राज के रूप में शहरी लूटेरे पूरी तैयारी से आगे आ गये हैं। राजीवस्त्र इनके हाथ अस्त्र बनकर आया है। इण्डिया की आर्थिक नीति में जो भी पतनशील है, दुष्टतापूर्ण है राक्षसी है उन सबका प्रतीक है यह राजीवस्त्र। पोलिस्टर, टेरिलीन, नायलन, अक्रीलीन ये सभी कपडे गरीबों के खून से ही भरे हुए हैं।

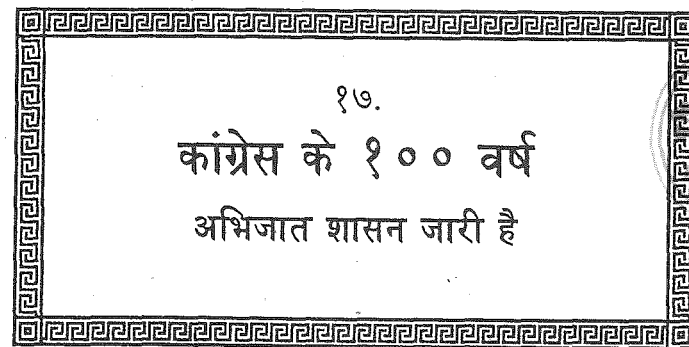
आंदोलन कहने से ही हानि की ओर ध्यान जाता है। यदि रास्ता रोका गया, तो पुलिस पकड़ेगी क्या? गोली चलायेगी क्या? ये सब तकलीफ तो रहती ही है। यह सब करते करते जब भी खाली होती है। मानसिक तनाव अलग से होता है। आपने सब तकलीफ सहन की हैं, आगे भी सहने की आपकी तैयारी है। हालांकि बनावटी कपडों की होली के कार्यक्रम में यह सब परेशानी कम है। लेकिन थोड़ी परेशानी होने पर भी आंदोलन का परिणाम तो महत्त्व का होता है।

ये बनावटी कपडे इतने पैसे खर्च कर खरीदे गये, इन्हें फेंकें कैसे?

शादी के समय ससुराल से मिले हैं, इन्हें जलायें कैसे? ये सभी सस्ते भी हैं, धोने में भी आसान हैं और देखने में भी आकर्षक हैं, कम कपड़े में काम भी चल जाता है, इनकी होली कैसे की जाय। ऐसा विचार आपने किया है क्या? तो ऐसा करके आपने अपने ही हाथों किसान-आंदोलन का घात किया है। होली न जलाकर बलिराजा को एक बार फिर पाताल में ही गाड़ दिया है।

बनावटी कपड़ों की होली एक प्रतीक है। किसान और देश सुखी हों, वास्तव में इसी के लिए एक बार फिर मानो अपने जीवन की ज्योति जलाने के लिए ही हम जागरूक हुए हैं।

पूर्वप्रकाशन : मजदूर किसान नीति
नवंबर १९८५



सन् १८७० से स्वेज कैनाल का रास्ता खुलने के साथ ही बम्बई की सम्पन्नता के द्वार भी खुल गये। जल्दी ही एक के बाद एक ट्रेन, ट्राम और गैस की बत्तियाँ बम्बई में नजर आने लगीं। सूती मिलें, सरकारी दफतर, उच्च न्यायालय, विश्व विद्यालय व घंटा घर की मीनार सभी ने धडाधडा आकार लिया। यह भारत के नवोदित अभिजात वर्ग के लिये स्वर्ण युग की शुरुआत थी। इस नये वर्ग का नेतृत्व नये विश्व विद्यालयों में शिक्षित उस जवान पीढ़ी के लोगों के हाथ में था जो पश्चिमी सभ्यता से पूरी तरह प्रभावित थे तथा अंग्रेजों की न्याय व प्रशासन व्यवस्था व ईमानदारी, समय की पाबन्दी, तर्कशीलता और लोकतंत्र जैसे मूल्यों में आस्था रखते थे। मैकाले के शब्दों में "ऐसे लोगों का एक वर्ग जो रंग और खून की दृष्टि से भारतीय थे लेकिन इच्छाओं, विचारों, नैतिकता व रुचि की दृष्टि से अंग्रेज।"

१८५७ की तबाही का इस अभिजात वर्ग पर कोई असर नहीं पडा। वास्तव में दो 'विद्रोहियों' की फाँसी पर बम्बई में जश्न मनाया गया। उन्हें शायद यह नहीं पता था कि भूमिकर को सिर्फ मुद्रा में लेने की नीति तथा उद्योगों में बनायी गयी सस्ती वस्तुओं की बाजार में भरमार से हमारी खेती और दस्तकारी तबाह हो रही थी। पिछली सदी में देश में लगभग २० बड़े अकाल पड़े थे, लेकिन इनसे तबाह व त्रस्त लोगों के दुःखों से इस अभिजात वर्ग को कोई सरोकार न था। उन्हें इसकी कोई चिन्ता नहीं थी कि औपनिवेशिक शोषण के जरिये इस देश का खून चूसा जा रहा था, वे इस अंग्रेजी लूट के देशी हिस्सेदार थे।

ब्रिटिश राज के अन्तर्गत लुट जाने की तकलीफ सब से ज्यादा

इसी अभिजात वर्ग को हुई, भूखे, गरीब किसानों को नहीं। उनके सामने पश्चिम का आलीशान जीवन था जिसे प्राप्त करने में एकमात्र बाधा यही थी कि दुर्भाग्य से वे देशी पैदा हुए थे। १८५७ का विद्रोह दबा दिये जाने के बाद आम जनता अपना नया रास्ता पहचानने व बनाने में अक्षम रही तथा शासकों की भाषा व व्यवस्था समझने वाला अभिजात वर्ग अकेला वह वर्ग था जो उनकी तकलीफों को सार्वजनिक अभिव्यक्ति दे सकता था।

कांग्रेस के पहले अधिवेशन में शामिल सभी ७२ व्यक्ति इसी अभिजात वर्ग के थे। सर ह्यूम ने पहल की थी जिन्हें राज की कार्यकारिणी समिति में स्थान से वंचित कर दिया गया था। जिससे उनके आत्मसम्मान को लगी चोट ही शायद इसका कारण थी। लेकिन वे कोई खतरा नहीं, मोल ले रहे थे। उन्होंने इस कार्य के लिये वाइसराय का समर्थन नहीं तो आशिर्वाद तो प्राप्त कर ही लिया था। उनकी परिकल्पना साफ तौर पर यही थी कि ग्रामीण जनता के विक्षोभ को संभालने का साधन ही कांग्रेस बनेगी।

कांग्रेस के प्रतिनिधियों की भावनाएँ साफ थी। वे सचिव की काउन्सिल और स्थानीय स्वशासन तथा खास करके प्रशासनिक सेवाओं में स्थान चाहते थे। दादाभाई नौरोजी जैसे महान् व्यक्ति के छ्याल में भी प्रशासनिक सेवाओं में प्रवेश “गरीबी और सम्पन्नता का प्रश्न था... जीवन-मरण का प्रश्न था।” इसी के अनुकूल कांग्रेस ब्रिटिश महारानी के पद चिन्हों की अनुगामिनी बनी।

लेकिन परिवर्तन की हवा चल चुकी थी। १९०५ की कांग्रेस ‘वन्दे मातरम्’ की गगनभेदी गूँज पर समाप्त हुई। लोकमान्य तिलक ने कांग्रेस के द्वार आम जनता के लिए खोल दिये। अन्त में महात्मा गांधी ने मध्यम वर्ग के आम लोगों को कांग्रेस में लाकर उन्हें टीपटाप नेतृत्व के खिलाफ खड़ा कर दिया। उनके अध्यात्मवाद, सादगी, साहस और आम लोगों के लिये दिलचस्पी ने कांग्रेस में तूफान ला दिया। अभिजात वर्ग बाहर कर दिया गया। जिन्ना जैसे कुछ लोग मुख्य धारा से अलग हो गये, लेकिन अधिकांश ने खादी को स्वीकार लिया क्योंकि उन्होंने यह हिसाब लगा लिया था कि गांधी की मुख्य धारा के बाहर उपेक्षा के अलावा कुछ नहीं मिलेगा। दूसरे विश्व युद्ध का अन्त आते-आते अहिंसक सविनय अवज्ञा आन्दोलन का पैमाना इतना व्यापक हो गया कि व्यवस्थित तौर पर शांतिमय ढंग से सत्ता का हस्तांतरण असंभव जान पड़ता था। थके व सत्ता के लिये आतुर कांग्रेस नेतृत्व को सत्ता और सम्पन्नता के अपने सपने टूटते हुए दिखायी दिये अतः

उन्होंने दौड़कर अधूरी स्वतंत्रता को स्वीकार लिया क्योंकि थोड़ी भी देर होने से देशी जनता अव्यवस्थित तरीके से राजनैतिक सत्ता पर कब्जा कर लेती।

स्वतंत्रता के बाद से अभिजात वर्ग ने फिर से अपना प्रभाव बढ़ाना शुरू कर दिया। महात्मा गांधी की हत्या ने इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाना आसान बना दिया। गांधी के सिद्धान्तों को एक भदे ज़ल्लबाज तरीके से एक किनारे कर दिया गया और उनके स्थान पर आ गये योजना आयोग के सुनियोजित आँकड़ेबाज तरीके। कांग्रेस के पहले अधिवेशन की मंशा पूरी हो गयी। अब पाश्चात्य तौर-तरीके अपनाने में देशी होने से कोई बाधा नहीं आनी थी। अभिजात वर्ग साम्राज्यवादियों द्वारा खाली की गयी कुर्सियों में जाकर बैठ गया और उनके द्वारा औपनिवेशिक शोषण के लिये खड़े किये गये बुनियादी ढाँचे का उत्तराधिकारी बन गया। प्रशासनिक सेवाएँ तथा सेना वैसी की वैसी बनी रही, लेकिन वन्दे मातरम् व आजाद हिन्द फौज के सैनिकों के लिये अब कोई स्थान नहीं था। महत्त्व के मन्त्रि-पद तथा अन्य राजनैतिक पद औद्योगिक एवं व्यापारिक घरानों तथा महाराजाओं द्वारा मनोनीत लोगों द्वारा भरे गये। सत्ता के इर्द-गिर्द जमा ‘सुन्दर’ लोग, स्वतन्त्रता दिवस का त्यौहार व गणतन्त्र दिवस की परेड नयीं संस्थाएँ थीं। बैंड बाजे के साथ पीछे हटने का तमाशा स्काटलैंड या लन्दन में न होकर दिल्ली के विजय चौक में हुआ।

सस्ते में कच्चा माल खरीदने और महँगे में कारखाने का उत्पादन बेचने का औपनिवेशिक तन्त्र और जोर शोर से लागू किया गया। फर्क केवल इतना ही था कि अब प्रमुख लाभ मैनेज्मन्ट और लंकाशायर को न होकर बम्बई और कलकत्ते को होने लगा।

अभिजात वर्ग के पक्के इलाकों में बहुत कारखाने खुले। अत्यन्त ही असंतुलित व हानिकारक समझौतों के जरिये पश्चिमी कंपनियों से तकनीकी ज्ञान व मशीनरी को प्राप्त किया गया। सारा भार ग्रामीण जनता के ऊपर डाल दिया गया जिसका शोषण-पूँजी संचय का प्रमुख तरीका था।

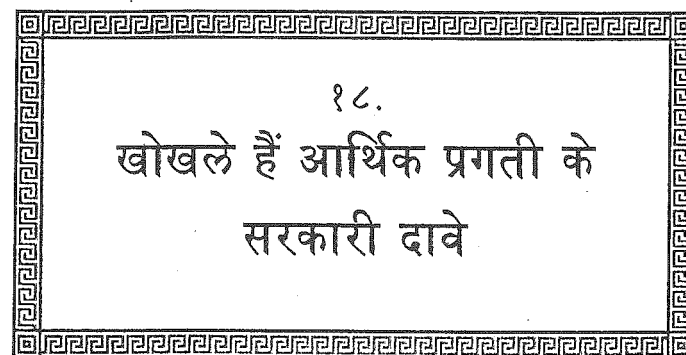
लेकिन अभिजात वर्ग के विकास के प्रयासों की नाकामयाबी जैसे पहले से ही तय थी। इससे धीमा और असंतुलित विकास हुआ। अत्यधिक गरीबी व बहुत अधिक सम्पन्नता दोनों साथ में बने रहे। न लोगों की जरूरतें पूरी हो सकीं न प्रभावी माँग ही अस्तित्व में आ सकी। बेरोजगारी, प्रदूषण, प्राकृतिक सन्तुलन की समस्याएँ, झुग्गी-झोपडियाँ, भ्रष्टाचार, हिंसा और संकीर्ण क्षेत्रीय माँगें आज की स्थिति के अभिन्न अंग बन गये हैं। नेहरूवादी देशभक्ति के नारों का अब कोई

प्रभाव नहीं रहा। इंदिरा गांधी की समाजवादी और लोकप्रियता वादी नारों की तरकीब अब काम नहीं करती। एशियन खेलों और निर्गुंट आंदोलन जैसी खर्चीली घटनाएँ, टेलिविजन के माध्यम से लोगों को कुछ हद तक प्रभावित करती रही हैं लेकिन यह भी अब घट रही है। इसी संदर्भ में राजीव गांधी की आपूर्तिपरक अर्थ नीति को समझा जाना चाहिये जो खुले तौर पर अभिजात वर्ग को आगे बढ़ाती है और आम जनता का कोई खयाल भी नहीं रखती।

हाल में बम्बई में हुआ कांग्रेस शताब्दि समारोह की आत्मा १८८५ की कांग्रेस से बहुत मिलती-जुलती रही। बीच में गांधी से जुड़ा एक दुर्भाग्यपूर्ण समय था, अब उस पर विजय प्राप्त कर ली गयी है। अभिजात वर्ग का नियन्त्रण हर क्षेत्र में है तथा उसके द्वारा ही पैदा किये गये पंजाब समस्या जैसे दैत्यों के चलते वह अपने को पूरे देश के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत भी कर सकता है। १८८५ के कांग्रेस प्रतिनिधियों के सपने पूरे हो गये हैं। उनके नाती-पोते गगनचुम्बी इमारतों में रहते हैं तथा पश्चिमी समाज के अमीरों जैसी मौज उड़ाते हैं। हालाँकि समयान्तर से कुछ परिवर्तन भी हुए हैं। भाप के इंजन और बिजली के स्थान पर अब कंप्यूटर और परमाणु हैं किन्तु विज्ञान व तकनीकी का तथाकथित स्थान वही बना हुआ है। साम्राज्यवाद का स्थान बहुदेशीय कंपनियों के विश्ववाद ने ले लिया है, जिनका आधार उनके साथ समझौता के लिए सदैव इच्छुक तीसरी दुनिया के निरंकुश शासकों में है। लेकिन अभिजात वर्ग की इस व्यवस्था से सतत लाभ उठाते रहने की इच्छा में कोई परिवर्तन नहीं आया है।

इस सब में राजीव गांधी की भूमिका महात्मा जी जैसी ही है। वास्तव में वे एक उल्टे महात्मा हैं। पुराने महात्मा ने अपने सारे साहस, समझ और प्रतिबद्धता के जरिये कांग्रेस को आम लोगों का स्वच्छंद व बाधरहित हथियार बनाने का प्रयास किया। राजीव गांधी भी उतने ही साहस से व अपने खानदानी शासन के उत्तराधिकारी की हैसियत से १९ वीं सदी के माहौल में २१ वीं सदी की बात करके तथा गरीबी हटाने के स्थान पर विज्ञान व तकनीकी की बात करके अभिजात वर्ग के हितों को बढ़ावा दे रहे हैं। अभिजात वर्ग द्वारा खुशी से और जोर-जोर से नयी नीतियों का स्वागत जायज ही है। उत्पादन व प्रबन्ध के क्षेत्रों की असफलताओं को भुला दिया गया है। उनके आँखों को चुभने वाले शान-शौकत के विलासी रहन-सहन को इज्जत की नजर से देखा जा रहा है। आयात के लिये दरवाजे खोल दिये गये हैं अब रोजगार के अवसरों व कृषि पर उनका कितना ही विपरीत प्रभाव क्यों न पड़े।

पूर्व प्रकाशन : मजदूर किसान नीति
फरवरी १९८६



‘आर्थिक मोरचे पर भारत तरक्की कर रहा है, हमारी योजनाएँ दूसरे विकासशील देशों के लिए आदर्श साबित हो रही हैं, खाद्य-पदार्थों के मामले में हम आत्मनिर्भर हो गये हैं, भारत का स्थान विश्व की दस बड़ी औद्योगिक शक्तियों में है, और यह कि हम राजीव गांधी के नेतृत्व में और उनकी माँ और नाना के बातये रास्ते पर चल कर ही २१ वीं सदी की ओर बढ़ रहे हैं, इन्हीं सब बातों का सरकार और सत्तारूढ़ दल द्वारा हर सम्भव तरीके से दिन-रात प्रचार किया जाता रहा और आज भी किया जा रहा है।

इस प्रचार का उद्देश्य यह बताना है कि भारत की आर्थिक प्रगति की तुलना किसी भी देश से नहीं की जा सकती और यह भी कि इसी आर्थिक प्रगति के फलस्वरूप ही नेहरू-इंदिरा-राजीव के नेतृत्व को चारों ओर प्रशंसा और अचम्भे की दृष्टि से देखा जाने लगा है।

मैं सत्तारूढ़ दल द्वारा प्रचारित इन दावों से बिल्कुल सहमत नहीं हूँ। वे इन झूठे दावों को प्रभावी तरीके से बार बार दोहरा रहे हैं। यदि कोई इस प्रचार के खिलाफ बोलने की हिम्मत नहीं करेगा तो शायद हम इन पर विश्वास करने लगेंगे। इस प्रचार से फैली भ्रान्ति और झूठे आत्मसंतोष के परिणाम अनर्थकारी भी हो सकते हैं। आखिर किसी को तो आगे आ कर लोगों को असलियत बतानी पड़ेगी।

मेरा उद्देश्य कीमतों में लगातार हो रही बढ़ोत्तरी, विदेश व्यापार में बढ़ते घाटे, सार्वजनिक क्षेत्र की अक्षमता और बढ़ते प्रशासनिक खर्चों की बात उठा कर सरकारी दावों को खोखला साबित करना नहीं है। इन बातों

को तो स्वयं वित्तमंत्री भी स्वीकारते हैं। न ही मेरा उद्देश्य १९८५-८६ के आर्थिक सर्वेक्षण में दिये गये आर्थिक आंकड़ों को गलत साबित करना है। मैं मानता हूँ कि १९५० से १९८५ तक के ३५ वर्षों में, १९७०-७१ के स्थिर मूल्यों के हिसाब से कुल राष्ट्रीय उत्पाद साठे तीन गुना बढ़ा है। कुल राष्ट्रीय उत्पाद में प्रति व्यक्ति वृद्धि १६५ हुई, औद्योगिक उत्पादन ६.८७ गुना बढ़ा और कृषि उत्पादन २.६५ गुना। हम अब पहले से ४.७ गुना कोयला, ७.५ गुना स्टील, १०.९ गुना सीमेंट, १११ गुना कच्चा तेल, २९.६ गुना बिजली और २.६ गुना खाद्य-पदार्थों का उत्पादन कर रहे हैं।

कुछ महत्वपूर्ण आँकड़े

	१९५०-५१	१९८४-८५
कुल राष्ट्रीय उत्पाद १९७०-७१ के मूल्यों पर (करोड़ रुपये में)	१७५३७	६१४७३
प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय उत्पाद, १९७०-७१ के मूल्यों पर (रुपयों में)	४६६	७७२
औद्योगिक उत्पादन सूचकांक (१९७०=१००)	२८.२	१९३.९
कृषि उत्पादन सूचकांक (१९७०=१००)	५८.५	१५५.६

उत्पादन (मिलियन टन में)

	१९५०-५१	१९८४-८५
खाद्य पदार्थ	५५.०	१४६.२
स्टील	१.०४	७.८
सीमेंट	२.७	२९.५
कोयला	३२.८	१५४.५
कच्चा तेल	०.२६	२९.०
बिजली (अरब किलोवाट घंटे)	५.३	१५७.०

(स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण, १९८५-८६ भारत सरकार पृष्ठ १८०)

मैं निश्चित रूप से यह कह सकता हूँ कि वृद्धि दर, जो यह आँकड़े दर्शाते हैं, बहुत साधारण हैं। अगर हम भारत की इस उपलब्धि की तुलना अन्य देशों की वृद्धि दर से करें और वह भी तीसरी दुनिया के विकासशील देशों से, तो हम पायेंगे कि हमारी उपलब्धि काफी उत्साहजनक नहीं रही है। असल में चीन जैसे कुछ देशों को छोड़ कर अन्य पिछड़े देशों

की तुलना में भी भारत पिछड़ रहा है।

हमें बताया गया है कि खाद्य उत्पादन में भारत की आत्मनिर्भरता, देश के आर्थिक इतिहास का स्वर्ण अध्याय है। यह भी कि इस उपलब्धि के लिए विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों ने भारत सरकार की पीठ ठोंकी है। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की इस विषय पर एक रिपोर्ट सरकार के दावों को गलत साबित करती है। भारत का कुल अनाज उत्पादन और कुल अनाज खपत का अनुपात, १९६० के ०.९५ से बढ़ कर १९८० में ०.९९ हो गया। थाईलैंड का अनुपात १.४४ से १.५५ हुआ, अर्जेंटीना का १.३४ से बढ़ कर २.७७ हुआ। पाकिस्तान में भी इस अनुपात में प्रभावशाली वृद्धि हुई, वहाँ यह ०.८० से बढ़ कर १.०५ हो गया।

इस रिपोर्ट के अनुसार १९७३-८३ के दशक में भारतीय कृषि की विकास दर १९६३-७३ के मुकाबले कम रही। कोलंबिया, फिलीपीन, तुर्की, पाकिस्तान, इण्डोनेशिया और यहाँ तक कि इथियोपिया और चीन में अनाज उत्पादन की वृद्धि दर १९७३-८३ के दस साल में भारत की वृद्धि दर से अधिक रही, जबकि कोलंबिया, तुर्की और चीन की वृद्धि इससे पिछले दशक में भारत से कम थी। (फाईनेंस ऐण्ड डेवलपमेंट, जून और दिसम्बर १९८५)।

राष्ट्रसंघ के विभिन्न प्रकाशनों के आँकड़े यह दिखाते हैं कि आर्थिक क्षेत्र में भारत की प्रगति विकासशील देशों की औसत आर्थिक प्रगति से कम है। १९५० से १९८० में विश्व का कुल राष्ट्रीय उत्पादन ४.१ प्रतिशत की औसत की सालाना दर से बढ़ा है। अगर विकासशील देशों को एक दल के रूप में लें तो उनकी भी विकास दर ४.९ प्रतिशत रही। इसकी तुलना में भारत की यह दर ३.५ प्रतिशत रही, जो विकासशील देशों (एक दल के रूप में) और विकास की औसत सालाना दर से कम है।

भारत की प्रगति, विश्व और तीसरी दुनिया के देशों (एक दल के रूप में) की तुलना में हर तरह से निम्न है। विदेश व्यापार को ही लीजिए। १९५० में अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में भारत का हिस्सा दो प्रतिशत था। १९८० में यह गिर कर ०.४ प्रतिशत रह गया। इसी तरह तीसरी दुनिया के देशों को भारत का निर्यात १९५० के ६ प्रतिशत से गिर कर १९८० में १.४ प्रतिशत रह गया। यही कहानी आयात, कृषि उत्पादन, औद्योगिक उत्पादन, स्टील, सीमेंट और बिजली उत्पादन की भी है,

इनमें केवल गेहूँ का उत्पादन ही एक अपवाद है। १९५० में गेहूँ के कुल विश्व उत्पादन में भारत का ४ प्रतिशत हिस्सा था, १९८० में यह बढ़ कर विश्व उत्पादन का ७ प्रतिशत और तीसरी दुनिया के कुल उत्पादन का २१ प्रतिशत हो गया।

औद्योगिक उत्पादन के आधार पर विश्व में भारत पहले दसवें स्थान पर था, अब वह तीसवें स्थान पर पहुँच गया है। सऊदी अरब, ब्राजील, चीन, मेक्सिको, अर्जेंटीना, ईरान, नाइजीरिया जैसे देश उसे पछाड़ कर आगे निकल गये हैं, यदि कुल औद्योगिक उत्पादन के बजाय प्रति व्यक्ति उत्पादन को आधार बनाकर हिसाब लगाया जाये, तो भारत का स्थान कम से कम ६० विकासशील देशों के बाद होगा, यह भी संभव है कि भारत को विश्व के सौ बड़े औद्योगिक राष्ट्रों की सूची में भी जगह न मिले। (हैंडबुक ऑफ इंडस्ट्रीज स्टैटिस्टिक यूनीटो १९८५)

इस लेख में उन सारे आँकड़ों को देना संभव नहीं है, जो भारत की इस आर्थिक 'उन्नति' को दर्शाते हैं। अतः इन आँकड़ों के आधार पर मैंने चार महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं। सब से पहले यह कि आजादी के इन ३१ वर्षों में भारत की, एक राष्ट्र के रूप में हुये विकास की स्थिति काफी अच्छी नहीं रही। अगर भारत से 'इण्डिया' को अलग करके आँकने पर आँकड़े निकाले जाते, तो निश्चय ही एक प्रभावशाली तस्वीर सामने आती। भारत गरीब देशों में सब से गरीब और 'इण्डिया' निश्चित रूप से एक विकसित औद्योगिक देश के रूप में सामने आती। दूसरी बात यह कि 'हाई-टेक्नोलॉजी' की बातों, कंप्यूटर और २१ वीं सदी के सपनों का भारत से कोई सरोकर नहीं है। यह सब 'इण्डिया' के लिए ही है। तीसरे, केवल गेहूँ के उत्पादन में ही भारत विश्व के अन्य देशों से आगे है। क्या यह संयोग नहीं है कि इस उपलब्धि के लिए जिम्मेदार क्षेत्र आज अशांत है और देश की अखंडता के लिए खतरा बन रहा है? अन्त में यह कि सारे मनुष्यों की अच्छे से अच्छा जीवन जीने की इच्छा से आर्थिक उन्नति का रास्ता खुलता है। यह बिल्कुल प्राकृतिक है। दरअसल, गरीबी एक विकार है। अगर नेहरू-इन्दिरा-राजीव न होते, तो क्या देश प्रगति नहीं करता? यहाँ यह कहना अधिक तर्कसंगत होगा कि, जो भी उन्नति हमने की है, वह नेहरूयुगीन योजनाओं के बावजूद की है, उनकी वजह से नहीं। हमारी प्रगति की रफ्तार और तेज होती,

अगर आजादी के बाद की सरकारें देश के आर्थिक विकास में दखलंदाजी न करतीं।

पूर्व प्रकाशन : रविवार
अप्रैल १९८६

१९.

सजा किसान को ही क्यों?

१९ मार्च १९८६ को महाराष्ट्र के साहबराव कर्पे, उसकी पत्नी और बच्चों ने जहर खा कर आत्महत्या कर ली. ३७ वर्षीय साहबराव कर्पे एक शिक्षित किसान था. स्नातक की उपाधि उसने प्राप्त की थी. उसके पास १५ एकड़ जमीन थी. वह यवतमाल जिले में अपने गांव का सरपंच था. गांधीवाद में विश्वास रखनेवाला साहबराव शेतकरी संघटना की गतिविधियों में भी कभी-कभार हिस्सा लिया करता था.

१९ मार्च को साहबराव अपने परिवार के साथ वर्धा आया और एक स्कूल के छात्रवास में रुका. उसी रात उसने पहले अपने चारों बच्चों को जहर दिया, फिर अपनी पत्नी को और अंत में खुद उसने जहर खा लिया. आत्महत्या से पहले साहबराव ने २० रुपये के स्टॉप-पेपर पर अपना बयान लिखा. उसके बयान की अंतिम पंक्तियां इस तरह हैं:

‘हम अपने आप को जान से इसलिए मार रहे हैं कि प्रधानमंत्री और प्रेस का ध्यान हम इस देश के किसान की दुर्दशा की ओर खींच सकें.’

कपास की अपनी फसल बरबाद होने के बाद साहबराव ने मूंगफली की खेती शुरू की थी. बकाया बिजली का बिल न भर पाने के कारण उसकी बिजली काट दी गयी. इस कारण उसकी सारी फसल सूख गयी. और इसके बाद साहबराव पूरी तरह हताश हो गया और अंततः उसने इतना बड़ा कदम उठा लिया. साहबराव के परिवार ने जिस धैर्य और शांति के साथ मौत को गले लगाया, उससे समुराई (पुराने जापानी युद्धकों) की ‘हाराकिरी’ की याद ताजा हो जाती है. साहबराव का परिवार भुखमरी का शिकार नहीं था. मूंगफली की फसल नष्ट होने बाद भी यह परिवार ज़िंदा रह सकता था.

लेकिन साहबराव अपने उद्देश्य में पूरी तरह असफल हुआ. हालांकि क्षेत्र के भाषाई अखबारों ने इस घटना को प्रमुखता दी और कुछ ने

तो इस पर संपादकीय भी लिखा. लेकिन बंबई के अखबारों ने इस पर कम ध्यान दिया. उनका ध्यान पंजाब की घटनाओं, समान नागरिक कानून, राम जन्मभूमि विवाद और शेयर बाजार में मंदी संबंधी खबरों की ओर ही लगा रहा.

विधानसभा का भी ध्यान इस हादसे की ओर नहीं गया. विधानसभा तो एम. डी. परीक्षा में धांधली के फलस्वरूप मुख्यमंत्री श्री निलंगेकर द्वारा दिये गये इस्तीफे से उत्पन्न स्थिति पर विचार-विमर्श में ही व्यस्त थी. एक मंत्री ने सदन में बयान दिया कि कर्पे परिवार की आत्महत्या का संबंध अकाल से नहीं है. इस तरह मामला यहीं खत्म हो गया. सत्तारूढ़ दल की तो बात छोड़िए, विपक्ष ने भी इसमें कोई दिलचस्पी नहीं ली.

साहबराव की आत्महत्या का अगर अकाल से संबंध होता, तो इसे समाचारों में प्रमुखता मिलती, क्योंकि अकाल संबंधी समाचार महत्त्वपूर्ण होते हैं! अकाल राहत कार्य भी एक बहुत बड़ा धंधा है और अकालग्रस्त इलाकों का दौरा करना आजकल की राजनीति का फैशन बन चुका है.

पिछले दिनों प्रधानमंत्री ने गुजरात के अकालग्रस्त इलाकों का दौरा किया. वहां उनका ज्यादा वक्त उनके सम्मान में आयोजित विभिन्न कार्यक्रमों में और कलकत्ता के लिए दूध ले जानेवाली पहली रेलगाड़ी को हरी झंडी दिखाने में निकल गया. महाराष्ट्र के नये मुख्यमंत्री शंकरराव चव्हाण भी कैसे पीछे रहते. उन्होंने भी अपने राज्य के अकालग्रस्त इलाकों का दौरा किया. उनका भी सारा समय पार्टी कार्यकर्ताओं से मिलने, सरकारी कर्मचारियों को लताड़ने और घोषणाएं करने में ही निकल गया. अन्य राज्यों में भी यह नाटक इसी उत्साह और जोश के साथ दोहराया जा रहा है.

अकाल राहत कैंप में किसी ‘वी. आइ. पी.’ का आगमन एक अच्छे-खासे नाटक से कम नहीं होता. वी. आइ. पी. महोदय के पहुंचते ही राहत कैंप में पत्थर तोड़ने के काम में लगे सारे लोगों से ‘नेताजी’ की मुलाकात करायी जाती है. इसमें से कुछ को अपना दुखड़ा सुनाने को कहा जाता है. अंत में भाषण पिलाने के बाद यह ‘वी. आइ. पी.’ महोदय कारों के एक काफिले के साथ अगले राहत कैंप की ओर रवाना हो जाते हैं और राहत कैंप के लोग अपने काम पर वापस लौटते हैं. ‘वी. आइ. पी.’ जी के आने से काम रुका, तो जाहिर है कि उस दिन उन्हें मजदूरी भी कम

मिलेगी, राहत की कौन कहे.

अकाल राहत कैप की हालत बिल्कुल युद्धबंदी कैपों की तरह है. बस फर्क इतना है कि अकाल राहत कैप अंतर्राष्ट्रीय रेडक्रास की देखरेख में नहीं चलाये जाते. इन कैपों में रहनेवाले लोग आर्थिक युद्ध में हारे हुए लोग हैं. सशस्त्र युद्ध से कहीं ज्यादा कठोर और क्रूर होता है यह युद्ध और कहीं अधिक समय तक यह युद्ध जारी रहता है, हारे हुएों में से जो जरा किस्मत वाले हैं, वे शरणार्थी बन कर भारत से 'इंडिया' पहुंच गये हैं और महानगरों की सड़कों पर बस गये हैं. यहां उन्हें कम-से-कम एक वक्त का खाना तो नसीब हो रहा है.

अकाल, सूखा और अभाव शायद हमारी नियति बन गयी है. ठीक है कि हम मानसून पर निर्भर हैं और मानसून को सारी भविष्यवाणियों को गलत साबित करने की आदत पड़ गयी है. लेकिन सवाल है कि खराब मानसून का असर सिर्फ ग्रामीणों पर ही अधिक क्यों पड़ता है. आबादी के गैर-कृषक वर्ग को कभी पत्थर तोड़नेवाले कैप में नहीं जाना पड़ा. अकाल के समय इन कैपों में कोई भी व्यापारी, अधिकारी और उद्योगपति पत्थर तोड़ता न मिलेगा. मानसून का लाभ तो सारा देश उठाता है, फिर भी खराब मानसून की सजा सिर्फ किसान को ही क्यों भुगतनी पड़ती है. मानसून न आये या उसने बहुत कंजूसी बरती हो, तो बिजली संकट पैदा होता है. बिजली कटौती होती है, लेकिन इस वजह से उद्योगपति और उनके कर्मचारी राहत कैपों में नहीं पहुंच पाते. उनके पास संचित साधन होते हैं. बुरा समय निकल जाने के बाद वे अपने इस घाटे की पूर्ति कर लेते हैं. लेकिन किसान?

दशक-दर-दशक किसान राहत कैपों पर निर्भर रहते आये हैं, क्योंकि अच्छे वर्षों में वे सिर्फ गुजारा ही कर पाते हैं. मौजूदा व्यवस्था उन्हें कुछ संचय करने नहीं देती, जिसके सहारे वे बुरे दिन काट दें. अगर किसान को अच्छे दिनों में कुछ बचाने का मौका दिया जाये, तो उस बुरे समय में राहत कार्यों पर निर्भर नहीं रहना पड़ेगा इस तरह की व्यवस्था किसानों को राहत कैपों से दूर रखेगी. और इस समय में वह अपनी जमीन के सुधार, मरम्मत का कुछ काम करेगा जो अच्छे वर्षों में वह कर नहीं पाता.

दरअसल, मौसम से ज्यादा मौजूदा आर्थिक व्यवस्था ही अकाल के लिए जिम्मेदार है. शायद साहबराव यही बताना चाहता था.

पूर्वप्रकाशन : रविवार
४-१० मई १९८६

२०.

किसान हर जगह नदारद था

आधुनिक महिलाओं के आन्दोलन के बारे में "द फेमिनाइन मिस्टिक" पुस्तक की लेखिका बेट्टी फ्रीडेन-ने अमरीकी महिला की छवि में परिवर्तन का अध्ययन करने की खातिर एक बेहद अनूठी विधि का इस्तेमाल किया था।

वे कहती हैं "मैंने न्यूयार्क के सार्वजनिक पुस्तकालय में कई दिन बिताये और पिछले २० वर्ष की अमरीकी महिला पत्रिकाओं के संस्करणों पर गौर किया। मैंने अमरीकी महिला की छवि एवं महिलाओं की दुनिया की सीमाओं में इस कदर तीखा एवं पेचीदा रद्दोबदल पाया जैसा कि समुद्र की तलहटी की तहों में परिवर्तन दिखाई देता है।"

बीते बरसों में किसान की छवि कैसी रही, यह जानने का कौतूहल लिये मैंने कुछ भारतीय भाषाओं, जिन्हें मैं जानता हूं, की पुरानी पत्रिकाओं के पन्ने पलटे। यह जानकर मेरे अचरज और क्षोभ की कल्पना कीजिये कि पत्रिकाओं के पुराने पीले पन्नों में किसान का अस्तित्व तक नहीं है। साहित्य के क्षेत्र में मैंने अपना अनुसंधान जारी रखा और मैं हतबुद्धि रह गया। किसान का कहीं भी नामो-निशान नहीं था। मैंने थियेटर, नृत्य, कविता, सिनेमा और यहां तक कि बेवकूफ बक्सा (टेलीविजन) में अपनी खोज जारी रखी, किन्तु किसान नदारद था।

मैंने गहन खोजबीन की और आखिरकार हार मान ली कि जैसा मैं उसे जानता हूं, किसान का लेखकों एवं कलाकारों की दुनिया में वजूद नहीं है। वह १८८० में नहीं था और इस वक्त १९८० में भी नहीं है।

बहुत सी लघु कथाओं, जिनसे सभी पत्रिकाएं भरी पड़ी हैं, और अनेक उपन्यासों से कोई जीवंत सबूत पा सकता है कि किसान का अस्तित्व रहा होगा। सभी चरित्र जीवित थे और जी रहे हैं। यह हकीकत इशारा करती है कि वे भोजन करते रहते रहे होंगे। अतएव उसे पैदा करने

वाला भी कोई होना चाहिये, खेतों एवं हरे भरे मैदानों, बगीचों के अत्यंत रोमानी एवं कवित्वपूर्ण वर्णन से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लेखक किसान नामक प्रजाति से अनभिज्ञ नहीं रहे होंगे। किसानों जैसे चरित्र से भी परिचय होता है। पृष्ठभूमि के लिये वातावरण बनाने की गरज से इन जन्तुओं की रचना की गयी होगी। ज्यादा से ज्यादा किसान का चित्रण पृष्ठभूमि में अथवा दोयम दर्जे के चरित्र के रूप में मिलता है और हीरो या केन्द्रीय पात्र के रूप में कभी नहीं दिखाई देता।

कथा-कहानियों के हीरो विभिन्न आकार-प्रकार के होते हैं। राज और डाकू भी हैं, साधू और पापी, विद्वान और मूर्ख, जोखिम उठाने वाले साहसी तथा दफ्तरों में काम करने वाले लोग भी हैं। नायकों की दुनिया बेहद लंबी चौड़ी है। आफिस जाने वाले लेखकों की दुनिया के सर्वाधिक आम नायक हैं सरकारी दफ्तर, डाकघर, रेल्वे एवं निजी कम्पनियों के बाबू। परिवार में और परिवार के बाहर बतियाते, चलते फिरते, तीन एवं चार के समूहों में गप्प करते सुपरवाइजर, मैनेजर, प्रोफेसर, डॉक्टर, वकील, कुली, भिखारी, कोढ़ी, शराबी, धोखेबाज, नशेलची एवं वेश्यायें। कहने का मतलब यह हुआ कि साहित्य के नायक के लिये कोई खास योग्यता दिखाई नहीं देती है। इस होड में किसान का कहीं नंबर नहीं लगता।

किसान के रूप में मण्डराने वाले चरित्र इस कदर पारदर्शी जाली हैं कि किसी भी देहाती को मूर्ख नहीं बनाया जा सका होगा। सामान्य पाठक इन चरित्रों (उपहासजनक) को कुल आबादी के ७० फीसदी से अधिक लोगों का प्रतिनिधि मानते चले आ रहे हैं।

साहित्य में जो एक अत्यंत प्रचलित चरित्र है, वह एक धनी किसान का बेटा है, जो कंधे से एक बंदूक लटकाये घूमता है और तमाम स्थानीय कैबरे नृत्यों में मौजूद होता है तथा आसपास मौजूद प्रत्येक युवती को हड़पने की कोशिश में लगा रहता है। दूसरे प्रकार का चरित्र देहाती मूर्ख है जिस पर ठहाके लगाये जा सकते हैं। एक अन्य ग्रामीण चरित्र है जो एक सस्ता चालबाज या एक क्रूर डाकू होता है। ग्रामीण मर्द चरित्र इस दायरे में आते हैं। औरत की दो श्रेणियां हैं—भली और बुरी सती और कुलटा।

रहन-सहन, विचार या हलचल, संक्षेप में कह सकते हैं, कि कृषि गतिविधियों में लगे मानवों का अहसास सिर्फ उनकी अनुपस्थिति के द्वारा ही होता है।

ऐसा नहीं है कि मानवीय चित्रण में ग्रामीण नहीं दिखाई देते हैं। कभी कभार एकाध ग्रामीण पोर्ट्रेट में नजर आता है। लेकिन ये बिरले चित्र ग्रामीण परिदृश्य के एक सीमित वर्ग—अनुसूचित जातियों, आदिवासियों, भूमिहीन मजदूरों के होते हैं। मिसाल के लिये आक्रोश, दामुल, पार आदि फिल्मों में लगता है निम्नतम से निम्नतम लोगों को कुछ प्रतिनिधित्व दिया गया है और इन पीड़ितों की व्यथा को प्रकाश में लाने के लिये कलाकारों को बधाई दी जाना चाहिये। किंतु ये समुदाय ग्रामीण समाज के केवल एक हिस्से का प्रतिनिधित्व करते हैं और काफी होते हुए भी एक मामूली हिस्सा हैं। ग्रामीण समाज के विशाल वर्ग को कैसी एकदम अनदेखी कर दी गयी?

समाज के निचले आर्थिक सामाजिक तबके का चित्रण करने वाली कृतियों पर सावधानी से गौर करने पर अचरज होता है कि क्या उनका वास्तविक मकसद असलीयत को छिपाना या उजागर करना था? निचले तबके का दुख-दर्द संभवतः हाथों-हाथ बिकता है। शायद यह पाठक में छिपे अपराध बोध को स्पर्श करता है जो सोचता है कि उसके दादा-परदादाओं के पापों के आंशिक पश्चाताप के लिये उसे इन कलाकृतियों की तारीफ करना चाहिये। अगर कोई अछूतों के अमानवीय हालात पर किसी रचना की प्रशंसा करता है तो यह माना जाता है कि वह जातिवादी दृष्टिकोण से परे है।

सर्वाधिक गरीब लोगों के दारुण दुख को अत्यंत सक्षमता, मार्मिकता से दर्शाया जाता है। रोटी, पानी, रोजगार और शिक्षा की जरूरत, सामाजिक आर्थिक शोषण, भ्रष्टाचार हिंसा एवं घोर व्यभिचार इत्यादि। लेकिन अत्यंत चतुराई से ऐसा खाका खींचा जाता है ताकि ध्वनित हो कि समूचे दुख दर्द की मुख्य जड़ नजदीक रहने एवं अपेक्षाकृत बेहतर ज़िन्दगी जीने वाला पड़ोसी है, जो एक या दो एकड़ जमीन का स्वामी है और निश्चय ही ऊंची जाति का है। अगर वह साहूकार, व्यापारी, सरपंच, पुजारी है तब उसे अपराधी करार दिया जाता है। यदि वह एक साधारण किसान है और कमोबेश सहयोगी है, तब भी उतना ही निन्दनीय है।

समूचा जोर लुके-छिपे तौर पर या निर्लज्जता से यह बताने पर रहता है कि देहाती इलाके फटेहाल आदमी को आलीशान ऊंची बहुमंजिला इमारतों, सिन्थेटिक फाइबर, वी. सी. आर. एवं शहरों की बढ़ती शान-शौकत, सम्पन्नता से कुछ लेना-देना नहीं है। और अपने साथी ग्रामीण के खिलाफ उनकी लड़ाई में बेहद गरीब देहातियों के एक मात्र

सच्चे सहयोगी शहरी सफेदपोश हैं। सर्वाधिक शोषित पीडित ग्रामीण समूहों को दी गयी अहमियत सहानुभूति एवं दया की ईमानदार अभिव्यक्ति के बजाय “ फूट डालो और राज करो” की एक बड़ी चालबाजी प्रतीत होती है।

मान लें कि ‘आक्रोश’ जैसी फिल्म एक ईमानदार कोशिश है फिर भी गायब किसान का रहस्य अनसुलझा रहता है। न सिर्फ ग्रामीण बल्कि समूची आबादी के विशाल बहुमत का निर्माण करने वाले किसान का चित्रण क्यों नहीं है? “दो बीघा जमीन” जैसी कृतियों में ठेठ ग्रामीण जीवन के चित्रण की कोशिश की गयी लेकिन सम्भवतः लेखक-निर्देशक को इस पहलू से दरपेश होने में दिक्कत होती है। जब किसान साहूकार के चंगुल में फंसता है, महानगर की ओर पलायन करता है और रिक्शा खींचता है, तब जाकर लोगों को विश्वसनीयता का कुछ सबूत दिखाई देता है। ज्यादातर कलाकृतियों में किसान की दिनचर्या, मानसून एवं फसल के आगमन का स्वागत करती नवयौवनाओं के साथ सामूहिक गीत गाने और सूखा निराश्रय एवं बलात्कारों के रूप में है।

सभी भाषाओं में कविता ग्रामीण जीवन, स्वच्छ हवा, दूधिया साफ पानी के ताजे झरनों, बुआई और फसल की सिंचाई करते वक्त गाये जाने वाले गानों, चमकते सूर्य एवं लहलहाती फसलों के रोमानी विवरणों से भरी पड़ी हैं।

किसान के वास्तविक जीवन एवं समस्याओं की साहित्य एवं कला के अन्य स्वरूपों में बमुश्किल कोई झलक मिलती है। कला के तमाम स्वरूप अनभिज्ञ हैं कि इस देश में खेती एक निरंतर खतरनाक खेल है जिसमें जान-माल का जोखिम बना रहता है, किसान की जिन्दगी आशा एवं निराशा के बीच लगातार झूलती है और जिसकी परिणति अपरिहार्य वार्षिक ड्रामा में होती है और बाजार में आने वाली कठिनाइयां तथा त्रासदी। राष्ट्रीय हीरो कहा जाने वाला किसान, गायब किसान के महान रहस्य को छोड़कर कहीं भी हीरो के रूप में नहीं है।

पूर्वप्रकाशन
: देशबंधु २६ जून १९८६

२१.

भ्रष्टाचार का मामला बताइये घूस की रकम वापस पाइये

देहतों में यह सर्वमान्य तथ्य है कि बाहर से आने वाला कोई भी निर्विवाद रूप अपने लोगों से श्रेष्ठ है।

गरीबी हटाओ कार्यक्रम के बेहतर धंधा और अच्छी राजनीति का जरिया बनने के बाद से जीपों एवं लिमोसिन मोटर कारों के काफिलों में गांवों की यात्रा करने वाले भद्रजन (सरकारी एवं गैर सरकारी) एवं नेता निश्चय ही खुद सर्व शक्तिमान भगवान द्वारा गढे हुए श्रेष्ठ लोग हैं और बेचारे किसान के लिये इस रूप में उनका सम्मान करना आवश्यक है।

और तो और शहरी दुनिया में निचले दर्जे के लोग देहातों में अति सम्माननीय बन जाते हैं। किसी भी सरकारी विभाग या बैंक का चपरासी वनरक्षक, वेटरनरी सहायक और शिक्षक गांव वालों के बाबू साहब या रावसाहब हैं और उन्हें बाकायदा खुश रखना पड़ता है। राजस्व विभाग का कोई भी कर्मचारी अपने आप में रायल्टी है तथा गांव का दौरा करने वाला पुलिस सिपाही कम से कम एक मुर्गा एवं एक बोतल की भेंट चाहता है।

१८ एकड़ सिंचित जमीन (कानून के तहत जमीन के स्वामित्व की अधिकतम सीमा) के मालिक को कथा कहानियों में निर्मम अत्याचारी के रूप में पेश किया गया है। लेकिन शहरी ताकत के इन प्रतिनिधियों से ये “जमींदार” भी भय के मारे थरते हैं। यदि कोई व्यक्ति बाहरी लोगों की ताकत से बेफिक्र है तो वह स्थानीय नेता ही हो सकता है। वे एक तरह से बाहरी शक्ति के स्थानीय प्रतिनिधि और इस नाते उन्हें सम्मान दिया जाता है, तथा बाहर से आये लोग उनसे सद्भावना भेंट भी करते हैं। गांव के बाकी अन्य लोग उनके पांव तले की धूल के समान हैं।

ब्रिटिश शासन में सफेद चमड़ी वाला कोई भी व्यक्ति सर्वश्रेष्ठ

काले व्यक्ति से श्रेष्ठ था। अब “इंडिया” का सबसे निचले दर्जे का व्यक्ति भारत के श्रेष्ठ व्यक्ति से बेहतर है।

देश की सदियों पुरानी परंपराओं में सभी संभव अवसरों पर छोटे लोगों द्वारा उच्च व्यक्ति को भेंट देकर प्रसन्न करना पड़ता है। जब कोई देहाती शहर जाता है तो उससे उम्मीद की जाती है कि वह अपने खून पसीने की पैदावार मसलन मुर्गा, तीतर, दूध, दही, अनाज आदि भेंट लेकर आये। दूसरी तरफ जब कोई शहरी गांव आता है तो एक मर्तबा फिर किसान से आशा की जाती है कि वह आवभगत की परंपरा को कायम रखें।

अगर कोई ग्रामीण एक सरकारी दफ्तर में पेश करने के लिये जमीन के रिकार्ड की नकल चाहता है, यदि उसे बिजली कनेक्शन चाहिये, यदि वह कर्ज के लिये प्रयासरत है, यदि वह किसी सरकारी योजना से लाभ लेने का इच्छुक है, उसका कुंआ गिर रहा है और उसे मरम्मत के वास्ते एक बोरी सीमेंट चाहिए, यदि वह अपनी जमीन में एक झाड़ काटना चाहता है, वह जाता है और संबंधित दफ्तर में कई दिन इंतजार करता है, लोगों की जेब गरम करता है, आने जाने में बड़ी रकम खर्च करता है, तब जाकर उसकी इच्छा पूरी हो सकती है। यह बेहद सामान्य तरीका है एवं कोई भी सच्चा किसान इन हालात के खिलाफ शिकायत का विचार तक नहीं करेगा। व्यापक भ्रष्टाचार पर सर्वाधिक तीखी प्रतिक्रिया सिर्फ यह है “साहब के घूस मांगने की कोई फ्रिक नहीं करता, लेकिन वे रुपया लेने के बाद भी काम नहीं करते हैं।”

लातूर जिला के अहमदपुर तालुका से ताजी हवा का झोंका बहता प्रतीत होता है। यह जिला पूर्व निजाम रियासत का एक हिस्सा था और इस नाते रयतों की चापलूसी एवं अधिकारियों के घोर भ्रष्टाचार का यहां आलम था। अनेक गांव की दीवारों पर हाथ से लिखा एक नारा अंकित है “चेचक का एक मामला बताइये और एक हजार रुपये इनाम पाइये”। अहमदपुर तालुका शेतकरी संघटना ने कुछ ऐसा ही एक परचा निकाला। “भ्रष्टाचार का एक मामला बताइये और घूस की रकम वापस पाइये”। रिश्वत के बार में शिकायत के इच्छुक सभी ग्रामीण को आवश्यक सबूतों के साथ एक नियत दिन तालुका मुख्यालय में एकत्र होने कहा गया।

इस घोषणा से न सिर्फ किसानों, बल्कि अधिकारियों और साथ ही सशस्त्र पुलिस में खलबली मच गयी। निश्चित दिन पहला किसान सामने पेश हो पाता उसके पहले ही अहमदपुर में घेराबंद वाहनों में सशस्त्र पुलिस

तैनात हो गयी थी। इससे कोई फर्क नहीं पड़ा एवं किसान रैली में शिकवा शिकायतों का दौरा शुरू हो गया। शेतकरी संघटना के ४ अधिकारियों के एक समूह ने सभी शिकायतों की पुष्टी की। शिकायतकर्ताओं से ५ रुपये के स्टाम्प पेपर पर तथ्यों को लिखने कहा गया और इसके बाद कोई ८०० लोगों की रैली दोषियों से निपटने के लिये एक के बाद एक विभिन्न दफ्तरों की ओर बढ़ चली।

अधिकारियों को बताया गया है कि दिलचस्पी उनके निलंबन या गिरफ्तारी में नहीं है, बल्कि वे सिर्फ घूस की रकम वापस चाहते हैं। उन्हें सबूत बताये गये और नम्रता से रकम लौटाने का आग्रह किया गया। अधिकारियों की पेशकदमी से सर्वाधिक आशावान किसान कार्यकर्ता तक हैरत में पड़ गये। एक के बाद एक अधिकारियों ने घूस की रकम वापस लौटाना शुरू कर दी, जो उन्होंने (अधिकारियों) रकम लौटाने के लिये थोड़ा वक्त देने का अनुरोध किया। लेकिन कोई लड़ाई—झगडा, टकराव और अप्रिय दृश्य नहीं दिखाई दिये। सब कुछ सरलता से निपट गया और यह सिलसिला चल पड़ा तथा जंगल की आग की तरह फैल रहा है।

एक बाजार निरीक्षक ने पानगांव, पाथरवाडी एवं भद्रावाडी के ग्रामीणों को १७०० रुपये लौटाये।

जिला मार्केटिंग सोसायटी के शाखा प्रबंधक ने एक झूठे वाउचर से संबंधित ५५० रु. वापस किए।

एक ग्रामीण बैंक के शाखा प्रबंधक ने २३५०० रुपये की धनराशि लौटाई।

भूमि अधिग्रहण कार्यालय ने २०० रुपये लौटाये और रांजुर गांव से उनके द्वारा मांगी गयी २८५०० रुपये की रिश्वत न लेना मंजूर किया।

छोटे से अहमदपुर तालुका के किसानों को दो लाख रुपये से अधिक वापस मिल गये। यह छोटी धनराशि प्रतीत हो सकती है किन्तु इसने किसानों के मनोबल को अंतहीन ऊंचाइयों तक बढ़ाया। उसकी सामूहिक ताकत के सामने एक अधिकारी का नतमस्तक होना और पहले ली गयी रिश्वत वापस लौटाना तथा क्षमायाचना की गुहार के दृश्य ने जीवन के प्रकृति उनके नजरिये को बदला है। शताब्दियों से वे कीड़ों के समान रहे होंगे। लेकिन अब वे जानते हैं कि वे फेरबदल कर सकते हैं।

पूर्वप्रकाशन : देशबंधु

१० जुलाई १९८६

स्त्रीशोषण का मूल आधार

समाज में आज स्त्री को द्वितीय दर्जे का स्थान प्राप्त है। वह है ही, इसके लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वह क्यों है, क्यों इसके पीछे कोई वैज्ञानिक आधार है या नहीं, क्या इसके पीछे कोई ऐतिहासिक कारण है, इन सारी बातों की हम चर्चा करेंगे।

इसके लिए कुछ मूलभूत वैज्ञानिक सत्यांशों, प्रयोगों से प्रमाणित हुई बातों का उल्लेख आवश्यक है। महिला व पुरुष दोनों के शरीर में बहुत थोड़ा मूलभूत अन्तर है। स्त्री के दुर्बल होने की बात वैज्ञानिक दृष्टिकोण से एकदम गलत है। रोग प्रतिकार शक्ति, संकटों का प्रतिकार करने का सामर्थ्य स्त्री में मूलतः अधिक होता है। विकसित देशों के सर्वेक्षण व औसत से यह सिद्ध होता है कि स्त्री की आयु पुरुषों से अधिक होती है। जंगली अवस्था में ऐसी स्थिति थी कि पुरुषों के बीच आपसी संघर्ष के कारण जो शरीर से मजबूत होगा वही अधिक बच्चों का पिता। इसी बात का उनके बच्चों पर परिणाम हुआ और पुरुष व स्त्री में अन्तर आता गया। इसी कारण आज विकसित समाज की स्त्री व पुरुष की शारीरिक क्षमता में अन्तर आ गया है। पुरुष शारीरिक दृष्टि से अधिक शक्तिशाली है, ऐसी धारणा पैदा होती है। आज भी प्रकृति के सान्निध्य में रहनेवाले आदिवासी समाज में स्त्री पुरुषों के आकार में अधिक अन्तर महसूस नहीं होता।

बुद्धि के मामले में भी स्त्री का पुरुषों से कमजोर होने का कोई वैज्ञानिक प्रमाण नहीं है। जन्म से ही स्त्री की बुद्धि का विकास तेजी से होता है। शब्दों के माध्यम से समझी गई बातों को व्यक्त करने की क्षमता—ललित प्रतिभा (Verbal Faculty) महिलाओं की ही शीघ्र विकसित होती है। वस्तुओं के आकारमान को दृष्टि से नापने की क्षमता—गणित क्षमता (visual-spatial faculty) पुरुषों की पहले विकसित होती है तथा शिक्षा से प्रगत माँ—बाप के बच्चों के मामले

में यह अन्तर भी महसूस नहीं होता। बौद्धिक दृष्टि से स्त्री किसी प्रकार से कमजोर नहीं है। पुरुषों की प्रवृत्ति मूलतः आक्रमक होती है, गुण्डागर्दी की होती है व स्त्री दब कर रहती है यह मानना भी गलत है। पुरुष व महिलाओं की इस प्रवृत्ति को आज की परिवार व्यवस्था में संस्कारों से ही प्रभावी किया जाता है, यह बात अनेक प्रयोगों से सिद्ध हुआ सत्य है। कोई भी पुरुष शत प्रतिशत पुरुष नहीं होता व स्त्री भी शत प्रतिशत स्त्री नहीं होती। पुरुषत्व व स्त्रीत्व के माने में रासायनिक घटक दोनों के शरीर में होते हैं। पुरुष ५० प्रतिशत से अधिक पुरुष व स्त्री ५० प्रतिशत से अधिक स्त्री होती है।

इन सभी वैज्ञानिक प्रमाणों को ध्यान में रखते हुए सवाल पैदा होता है कि स्त्री को द्वितीय स्तर क्यों प्राप्त हुआ, पुरुषों को वर्चस्व कैसे प्राप्त हुआ? अर्थात् पुरुष श्रेष्ठ व स्त्री में कोई कमी है, यह बात सर्वत्र नहीं है। कुछ आदिवासी समाजों में यह मान्यता नहीं है। कुछ समाजों में महिला प्रधान संस्कृति प्रचलित है।

पुरुषों को वर्चस्व क्यों प्राप्त हुआ, इसे समझने के लिए कुछ बातों पर ध्यान देना जरूरी है।

आदर्श स्त्री व पुरुषों के मामले में समाज व परम्पराओं की कुछ कल्पनाएँ हैं। क्या वह आदर्श स्त्री जितनी स्त्री थी उतनी आज है? वह पुरुष भी जितना पुरुष था क्या आज है? उत्क्रांति के साथ स्त्री के स्त्रीत्व व पुरुष के पुरुषत्व में अन्तर आना स्वाभाविक है।

स्त्री के गर्भ धारण की अवधि व बच्चा पैदा होने के बाद बच्चे के आत्म-निर्भर होने के लिए आवश्यक देखभाल की अवधि पर स्त्री की सामाजिक भूमिका निर्भर है।

प्रसूति में स्त्री के जिन्दा रहने की सम्भावना वैज्ञानिक प्रगति के साथ बढ़ती जा रही है। एक समय यह सम्भावना कम थी। परिवार नियोजन की सम्भावना व होनेवाला बच्चा लडका होगा या लडकी इस बात का पता लगाया जा सका तो इन बातों पर भी स्त्री की सामाजिक भूमिका निर्भर होगी।

स्त्री व पुरुष के आपसी सम्बन्धों में कुछ अन्य भी महत्वपूर्ण पहलू हैं। एक तो अन्य प्राणियों के समान काम वासना की प्रबलता का काल पुरुषों में साल में कुछ ही महीने रहेगा ऐसी बात नहीं है। मनुष्य प्रियाराधन के विभिन्न प्रकार की साधन सम्पत्ति का उपयोग करता रहता है। साधनों की सम्पत्ति बनाना व उसे प्रियाराधन के लिए उपयोग में लाना,

मानवी स्वभाव है। विभिन्न कलाओं के संवर्धन के लिए उसे प्रियाराधन के लिए उपयोग में लाने की भावना इसमें हो सकती है।

इतिहास में स्त्री को द्वितीय दर्जा कब प्राप्त हुआ, यह अनुसंधान का विषय है। जंगली अवस्था में यह भेद नहीं था, पहले खेती भी महिलाएँ ही किया करतीं थीं। जब पुरुष ने साँड़ की नाक में नकेल डालकर उसे बैल बनाकर अपने कब्जे में रखने का सामर्थ्य दिखाया, यह बात संभवतया स्त्री को, शारीरिक कारणों से, उसकी गर्भ धारणा अवस्था आदि से, सम्भव नहीं हुआ होगा, तब स्त्री को द्वितीय दर्जा मिला होगा। इसी कारण खेती में अपने वर्चस्व की याद में हिन्दू स्त्री ऋषि पंचमी को बैलों की मेहनत के बगैर पैदा हुए अनाज को पकाती होगी।

एक मान्यता यह भी है कि जब पशुओं से संबंधित व्यवसाय प्रारम्भ हुआ और पुरुषों ने उनके द्वारा पकड़े गये जानवरों पर पुरुष का स्वामित्व बताया व अपने मरने के बाद अपने ही बच्चों को उसके अधिकार की कल्पना, स्वामित्व की कल्पना से स्त्रियों को द्वितीय दर्जा प्राप्त हुआ होगा।

स्त्री के शोषण के सम्बन्ध में मार्क्सवादी विचारधारा जँचती नहीं है। वह विचारधारा ऐसी है कि औद्योगिक कामदारों के शोषण में पूँजी वृद्धि करते समय कामगार को केवल उतनी ही मजदूरी दी जाती है जिससे कि अगली पीढ़ी भी मजदूर ही बने। तात्पर्य श्रमिक को केवल परिवार के भरण—पोषण के लिए आवश्यक मजदूरी ही दी जाती है। मार्क्स इस बात को स्वीकार करता है कि घर-घर में स्त्री का शोषण हो रहा है परन्तु इसके साथ वह यह भी कहता है कि परिवार में कार्यों का विभाजन शारीरिक क्षमता व गुणों के आधार पर किया जाता है।

मजदूर को परिवार के भरण—पोषण के लिए आवश्यक मजदूरी की बात मार्क्स के काल में जर्मनी, इंग्लैण्ड, फ्रान्स में रही होगी परन्तु भारत जैसे अनेक देशों में खेत में मजदूर, उसकी पत्नी, उसकी लड़की सभी को श्रम करना पड़ता है। मार्क्स के अनुसार महिलाएँ जब उत्पादक उद्योग में जायेंगी तभी महिलाओं पर हो रहे अन्याय का निराकरण हो सकेगा। मार्क्स का यह समाधान मार्क्स के खेती सम्बन्धी समाधान के जैसा ही अधूरा है। मार्क्स का कहना है कि किसान जब परम्परागत पद्धति से हटकर यन्त्रों से खेती करना प्रारम्भ कर देगा, उसकी स्थिति सुधरेगी।

यदि हम यह कहें कि घर घर में स्त्री का शोषण होता है इसलिए मजदूरों का पूरा वर्ग एक ही है कहना गलत होगा क्योंकि पचास प्रतिशत

स्त्रियों का वर्ग अलग रहेगा।

स्त्री पर अन्याय हो रहा है किन्तु सभी पुरुष स्त्री पर अन्याय करते हैं, दबाव डालते हैं, उस पर नियंत्रण रखते हैं, कहना ठीक नहीं होगा।

खेती व स्त्री के शोषण के इतिहास में कुछ साम्य नजर आता है। दोनों मामलों में यह इतिहास आक्रमण, अत्याचार, ले भागने का इतिहास दिखाई देता है। आक्रमण का प्रमुख उद्देश्य शत्रु की सम्पत्ति हड़पना व शत्रु समाज की स्त्रियों का अपहरण ही है। जिस समय श्रम शक्ति ही पूँजी थी श्रम शक्ति बढ़ा सकनेवाली स्त्री का अपहरण स्वाभाविक ही है।

खेती लूटने व स्त्रियों के अपहरण के काल में आज जो समाज व्यवस्था ग्रामीण क्षेत्रों में दिखाई देती है, वैसा निर्माण होना अपरिहार्य ही था। पुरुष के आक्रमक स्वभाव, गुण्डागर्दी की प्रवृत्ति, समय आने पर पूजा कर, उसकी सराहना कर परिवार की स्त्रियों की रक्षा करना, उन पर अत्याचार न होने देना स्त्रियों के लाभ की ही बात थी। श्रम शक्ति को बढ़ा सकनेवाली स्त्री परिवार में होना, यह पुरुष के लाभ की बात थी। इस परिवार व्यवस्था में पुरुष के आक्रमक प्रवृत्ति की पूजा, गुण्डागर्दी यही पुरुषत्व की कल्पना सामने आना भी स्वाभाविक ही था। खेती की लूट पर आधारित पूँजी निर्माणवाले समाज में परिवार व्यवस्था का यही चित्र बना व वह कायम रहा।

आक्रमणों के दौरान, लूट पर आधारित पूँजी निर्माण के काल में स्त्री व पुरुष दोनों के लिए लाभप्रद साबित हुई परिवार व्यवस्था शांति काल में लूट न होनेवाले समाज में उचित साबित होगी ऐसी बात नहीं। इससे विपरीत लूटपाट से संरक्षण करने की पुरुष की भूमिका यदि नष्ट हो जाना है तो पुरुष की आक्रमक प्रवृत्ति की आवश्यकता से प्रधानता नष्ट हो जायेगी। परन्तु पूँजी निर्माण की प्रक्रिया यदि ऐसी ही मारपीट, लूटपाट, धोकाधड़ी की प्रक्रिया हो रही तो उसकी प्रधानता बनी रहेगी। महिलाओं को प्राप्त दूसरा दर्जा दूसरा दर्जा ही रहेगा। आज की पूँजी निर्माण प्रक्रिया खेती की लूटपाट, धोकाधड़ी की विकसित अवस्था ही है। इस अवस्था में पुरुषों को प्राप्त स्थान बना रहेगा।

पूर्वप्रकाशन:- मजदूर किसान नीति
जुलाई-अगस्त १९८६

विकल्प का रास्ता

पिछले कुछ दिनों से जो भी कोई मिलता है एक ही प्रश्न पूछता है अब आगे क्या होगा ?

फेयरफेक्स, बोफोर्स, अमिताभ, अजिताभ जैसे-जैसे एक-एक काण्डों का भण्डाफोड हो रहा है वैसे-वैसे ताश के महल की तरह सरकार का दिखाऊ किला ढह रहा है। सत्तारूढ़ दल स्पष्ट तौर पर दो भागों में बँटता जा रहा है और भ्रष्टाचार विरोधी गुट की ताकत दिन-ब-दिन बढ़ रही है।

“आगे क्या होगा” इस प्रश्न से अधिक महत्त्व का प्रश्न है “जो होना है वह कब होगा ?”

भ्रष्टाचार करते समय जान बूझ कर उसका सबूत तो नहीं छोड़ा जाता लेकिन इसके बावजूद परिस्थितीवश कुछ सबूत छूट ही जाते हैं। एक-एक करके जब ऐसे सबूत इकट्ठे होने लगते हैं तो निर्लज्ज सत्ताधारियों को भी शमसन चलाना मुश्किल हो जाता है। अमरीका के राष्ट्रपति श्री मार्कोस का भी यही अनुभव है। आज नहीं तो कल तक, परिस्थितिबश छूटे ही सही, लेकिन इतने सबूत उपलब्ध हो जायेंगे कि श्री राजीव गांधी को प्रधान मंत्री के तौर पर सक्षमता-पूर्वक कार्य करना असंभव हो जाएगा, इसमें मुझे शक नहीं।

हो सकता है कि सारे सबूत सामने आने के पहले कांग्रेस के लोग ही विद्रोह कर दें। स्थिति बेकाबू होते देख इमरजेंसी का दूसरा प्रयोग किया जा सकता है। इन सब रास्तों से होनी को दूर ढकेला जा सकता है, लेकिन टाला नहीं जा सकता।

जो हो रहा है वह भगवान् की कोई लीला है या किसी दुर्घटना की वजह से है या बाहरी शक्तियों का षड्यंत्र है, इस प्रकार के तर्क सही नहीं हैं। राजीव गांधी के सत्ता में आने के साथ ही सत्ता दून स्कूल वाले

बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के व्यवस्थापक समाज के हाथ चली गई। इस समाज के स्वभाव में ही संकट छुपा है। लायसेन्स-परमिट पर पोषित यह समाज भ्रष्टाचार के बगैर जी ही नहीं सकता। इमरजेंसी तक भ्रष्टाचार मूलतः देश के अन्दर ही सीमित था। जनता पार्टी की सरकार बनने के बाद से किसी एक ही पार्टी को धन उपलब्ध कराने को देशी कम्पनियाँ तैयार नहीं रहीं। दोनों नावों पर वे पैर रखने लगीं। उस समय से आवश्यक और अनावश्यक आयात पर कमीशन लेने की प्रथा शुरू हुई। अग्रवासी भारतीयों ने बड़े पैमाने पर पैसे भेजना शुरू किया था। इसके अलावा देश के अन्दर ही जगह-जगह तेल मिलने की वजह से विदेशी मुद्रा की कमी लगभग खत्म हो गई थी। आजादी के बाद पहली बार देश में पैसे उड़ाने की सम्भावना सामने आई। सही-गलत कारणों से आयात करने की भाग दौड़ शुरू हुई। देश के भण्डार पूर्णतः भरे हुए होने के बावजूद गेहूँ आयात किया गया। जिस वर्ष चीनी का रिकार्ड उत्पादन हुआ, उसी वर्ष चीनी आयात की गई। कृत्रिम धागे तो आयात हुए ही, लेकिन उसके साथ कपास भी आयात किया गया। कोई रोक टोक नहीं रही। कम्प्यूटर, विभिन्न यंत्र सत्तारूढ़ दल को मानो खजाने की गुफा मिल गई हो। इस गुफा में जाने का मंत्र केवल वे ही इस्तेमाल कर सकते थे। विपक्ष को इस गुफा में प्रवेश मिलने की संभावना नहीं थी।

रक्षा संबंधी खरीददारी पर कमीशन तथा अन्य सुविधायें प्राप्त करने की प्रथा पुरानी है। अब अन्य आयात पर भी खुले आम कमीशन लिया जाने लगा है। यह पाप का घड़ा कभी न कभी भरना ही था।

कहीं भण्डाफोड न हो इसकी व्यवस्था सरकार ने मुस्तैदी से की थी। पूरा-पूरा बन्दोबस्त किया गया था। केवल एक ही मामले में सरकार का अन्दाज गलत साबित हुआ। कुर्सी और स्वार्थ छोड़कर फकीरी अपनाने कोई पगला पीर तैयार होगा, यह सपने में भी नहीं सोचा गया था। लेकिन ऐसा एक पगला पीर था, और पूरी इमारत ढहने लगी। यह सब तो कुछ ऐसा हैं जैसे कोई मँजा हुआ खूनी-डाकू पाकेट मारने के जुर्म में पकड़ा जाए और पूरा पुलिस विभाग उसी काम में व्यस्त हो जाए। सभी का ध्यान “भ्रष्टाचार” इस एक ही प्रश्न पर केन्द्रित है। भ्रष्टाचार इतना क्यों बढ़ा? लायसेन्स-परमिट का राज्य बना कैसे? लेने वाले भले ही थोड़े में संतुष्ट हों, देने वाले बैग भर-भर के रिश्वत क्यों देने लगे? यह आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था तैयार कैसे हुई? इस रोग को जड़ से उखाड़ फेंकने की मानसिक अवस्था में कोई नहीं है।

यह सरकार ढह रही है और मिट्टी में मिलने वाली है, यह सब जानते हैं। कुछ इसी तरह का तूफान आयेगा यह हमें पता था ऐसा स्वयं राजीव गांधी ने भी कहा था। कुछ दिनों पूर्व श्री शरद पवार से भेंट हुई थी। उस वक्त उन्होंने भी यही संभावना व्यक्त की थी। राष्ट्रपति चुनाव के पहले ऐसा कुछ होगा, शायद विपक्ष का उम्मीदवार चुनकर आयेगा। इतना ही नहीं विपक्ष के हाथ में सत्ता आ जाएगी ऐसी भविष्यवाणी उन्होंने की थी। यदि ऐसा होता है तो यह एक अच्छा मौका होगा। इससे कांग्रेस की सफाई करने का अच्छा मौका मिलेगा और साल दो साल में आपस में लड़ने वाले विपक्षियों को दूर कर साफ, मजबूत और सक्षम कांग्रेस फिर से सत्ता में लाई जा सकेगी। इसी हिसाब से वे काम कर रहे हैं। ऐसा उनका कहना था।

विपक्ष की स्थिति भी कुछ भिन्न नहीं है। भ्रष्टाचार के मामले को लेकर सत्तापक्ष संकट में है यह देखते ही विपक्ष की मानसिकता एकदम बदल गई। उन्नीस सौ अस्सी और चौरासी-पचासी के सबक वे तुरंत भूल गये। देश के लगभग आधे राज्य विरोधी दलों के कुरुक्षेत्र बने। सत्ता एक बार फिर पास आती नजर आयी उसी के साथ आत्म-परीक्षण का मूड एकदम खत्म हो गया। और एक बार फिर विरोधी दल अपने-अपने गुटों के साथ अधिक से अधिक सत्ता हथियाने के लिये आगे बड़े। मोर्चा बनाने की बात शुरू हुई। लेन-देन के झगड़े शुरू हुए। पुरा नजारा सतहत्तर का ही। फर्क केवल इतना ही है कि उस वक्त कोई सर्वमान्य नेता नहीं था इस बार श्री वी. पी. सिंह को लोगों ने ही नियुक्त किया है। किसी भी पार्टी की मर्जी पर उनका स्थान निर्भर नहीं है। लेकिन, यदि मोर्चा बनता भी है तो भी लोग उस पर विश्वास रख कर उसे चुनेंगे, यह कहना मुश्किल है। मोर्चा यदि चुना भी जाता है तो भी उससे कुछ हो पाना तो दूर, साल दो साल बिना लड़े सत्ता सँभालना भी असंभव लगता है।

भारत के पहले गणतंत्र का अंत हो रहा है। जिस रोग और कमजोरी के कारण यह गणतंत्र कराहते-कराहते ज़िंदा रहा वह रोग एक तरफ रहा। उस रोग से खोखले हुए शरीर में दूसरी ही बीमारी घुस गई। भूखमरी से जर्जर व्यक्ति उलटा-सीधा खा ले और उसकी हैजे से मौत हो जाए कुछ वैसी ही बात है।

यह शासन खत्म हो कर दूसरा शासन शुरू होगा। लेकिन मूलभूत रोग का अन्त नहीं होगा।

राजनैतिक विकल्प क्या हो, इसकी खोज जगह-जगह पर हो रही

है। शासन की मृत्यु शैय्या के पास वैद्य, हकीम, डाक्टरों की लड़ाई जारी है। वी. पी. सिंह की गाडी पर पुराना, बदनाम नेतृत्व कूद-कूद कर चढ़ने की कोशिश कर रहा है। श्री सिंह यदि सफल होते हैं, तो सरकार के साथ विरोधियों की गाडी भी दबने वाली है। जो भी वैकल्पिक नेतृत्व सामने आने वाला है, उसके लिए यह कसौटी की घडी है। एक दूसरे का मुँह देखकर बिदकने वाले विपक्षी दलों की गठरी बनाकर यह काम नहीं होगा। जहाँ तक हो सके सब को सम्हाल रखने की राजनीति यहाँ आत्मघाती सिद्ध होगी। लोगों को सही मायने में विकल्प चाहिए। यदि उन्हें सही विकल्प नहीं मिला तो मजबूरन वे तात्कालिक पर्याय स्वीकार करेंगे भी, लेकिन मौका मिलते ही उसे छोड़ देंगे।

विकल्प तैयार होने की प्रक्रिया क्या होगी? मैंने इस बात को उन्नीस सौ पचासी में ही कह रखा था।

आगे से हर राजनैतिक दल का खड़ा विभाजन होगा। हर राजनैतिक दल के इंडिया वादी राजीव गांधी के झण्डे के नीचे जमा होंगे। सारे भारत वादी दूसरे छोर पर होंगे। इंडिया और भारत का संघर्ष निर्णायक होगा। जब तक यह संघर्ष खत्म नहीं होगा तब तक राजनैतिक स्थिरता आ ही नहीं सकती।

दिल्ली के किसी झाड़ूगर्भ में बना मोर्चा यह संघर्ष नहीं चला सकता। इसके लिए एक व्यापक जन आंदोलन की आवश्यकता है। इस जन आंदोलन की शुरुआत किसानों को करनी होगी। इस आन्दोलन की आग में तपकर जो निकल पायेंगे वे सच्चे होंगे। वे चाहे कांग्रेस आई के लोग हों, किसी भी विपक्षी दल के लोग हों, या किसी भी दल से संबंध न रखने वाले लोग हों। अब झूठी मरम्मत से काम नहीं चलेगा। अब आवश्यकता है सच्चे पुरुषार्थ की।

पूर्वप्रकाशन : मजदूर किसान नीति
नवंबर १९८७

कौन होती है सरकार कर्ज माफ करने वाली

कर्जमेध का घोडा

कर्जमेध रूपी अश्वमेध का घोडा, जो देवीलाल ने छोडा है, वह जगह-जगह रोका जायेगा, स्थान-स्थान पर लडाइयाँ होंगी। लेकिन इतना निश्चित है कि सन् '१९८९ के आगामी आम चुनाव में यह मुख्य प्रश्न बनकर उभरेगा। सन् ७७ और ८० के आम चुनावों में जैसे खेतीउपज प्याज का भाव निर्णायक हुआ, इस बार किसानों की कर्जमाफी से ही निर्णय होने वाला है। हरियाणा के चुनाव में पंजाब के साथ हरियाणा का विवाद मुख्य प्रश्न बनकर नहीं उभरा वरन् कर्ज माफ कर देने की देवीलाल की घोषणा निर्णायक रही। राजीव कांग्रेस की पराजय तो निश्चित थी, अब जो कर्ज-मुक्त कर दे, उसे ही मतदाताओं ने विजयी बनाने का तय किया।

सन् १९८० में महाराष्ट्र में अंतुले ने भी कर्जमाफी का सवाल उठाया था। रिजर्व बैंक ने इसका विरोध किया, तो उन्होंने राज्यकोष से इसका भार वाहन करने की बात की थी। जब अंतुले के ऊपर संजय गांधी का वरदहस्त था, तब रिजर्व बैंक का गर्वनर उसका क्या कर सकता था। उनसे सीमित कर्जमाफी की घोषणा कर दी। तब अंतुले को विरोधी दलों के साथ कांग्रेस के भीतर से भी इस बात की आलोचना सुननी पड़ी थी। सभी राजनेता कर्ज में डूबे हुए किसान की कर्जमाफी के विरोध में थे। इस प्रकार की सीमित कर्जमाफी के प्रयत्न अन्य प्रांतीय कांग्रेसी सरकारों द्वारा भी किये गये, लेकिन वह प्रभावकारी सिद्ध नहीं हुई। अंतुले के बाद रंग बिरंगे चुनावी आश्वासनों के साथ देवीलाल ने ही कर्जमाफी का सवाल प्रभावशाली ढंग से उठाया। लोकदल के कर्जमाफी के कार्यक्रम को कांग्रेस ने इस बार असंभव बताया था। तब हरियाणा के चौधरी ने अपनी चौधराहट के अंदाज

के जवाब में दिया था, 'मुख्यमंत्री पद की शपथ लेने के तीन दिन बाद ही कर्जमाफी का आश्वासन पूरा कर दूँगा। राज्य के मुख्य सचिव से कर्ज की फाइल मँगवाऊँगा और उस पर लिख दूँगा कि कर्ज माफ हुआ।' जनसभा में देवीलाल के इस कथन का तालियों की गडगडाहट से स्वागत किया गया था। हालाँकि ताली बजाने वालों को भी यह पता था कि यह काम कठिन है। हरियाणा के किसान सोच रहे थे कि एक बार यह कर्जमेध का घोडा छूट तो जाय फिर इसके लिए लडाई चलती रहेगी। अडचनों को रास्ते में ही सुलझाया जायेगा।

चुनाव में विजयी होने के तीन दिन बाद ही देवी लाल ने चुने हुए विधायकों की सहमति से कर्ज माफी की घोषणा कर दी। लेकिन इतना फर्क किया कि छोटे किसानों के साथ छोटे दुकानदारों और रिक्शा चालकों के कर्ज भी माफ कर दिये। उसने किसानों के बजाय गांव शहर दोनों को शामिल किया। रिजर्व बैंक ने जबरदस्त विरोध किया। बैंक के अनुसार कर्ज माफी एक ऐसी सुरंग है, जिसका अंत नहीं। फिर तो लोग हर चुनाव में कर्ज माफी की आशा करेंगे और कोई भी कर्ज लौटना नहीं चाहेगा। तब कर्ज की पद्धति ही नष्ट हो जायेगी और ऐसी बातें देश के लिए घातक होगी। फिर उद्योग और व्यवसाय ठप्प पड जायेंगे। राज्य सरकारें स्वयं कर्ज में डूब जायेंगी। इसलिए कर्ज का व्याज तो माफ किया जा सकता है, किस्त की दरें कम की जा सकती हैं, अवधि बढ़ायी जा सकती है लेकिन कर्ज माफ नहीं किया जा सकता, यह सब बातें रिजर्व बैंक की ओर से कही गई।

प्रधानमंत्री को इस विषय पर बोलने की जरूरत नहीं थी लेकिन पानीपत की हार का घाव इतना पीडा जनक था कि देवीलाल को कहीं भी वे नीचा दिखाना चाहते थे। २१ जुलाई १९८७ को दिल्ली में बुलाये गये संवाददाता सम्मेलन में उन्होंने कहा, "कर्ज माफी बहुत गलत है। इससे पूरी राज्य-व्यवस्था ही ढीली पड जायेगी। किसानों को कर्ज मिलना भी मुश्किल होगा। इसका सबसे ज्यादा असर हरियाणा के किसानों पर ही पडेगा। पंजाब की तरह हरियाणा का किसान भी हरित क्रांति का अग्रदूत रहा है। उन्होंने उत्पादन बढ़ाया है, उनका आर्थिक विकास हुआ है। इस विकास में गांव-गांव में फैले ग्रामीण भूमि विकास बैंकों की जबरदस्त भूमिका रही है। कर्ज माफी से इनको धक्का पहुँचेगा। एक बार कर्ज न लौटाने पर दूसरी बार कर्ज मिलना कठिन हो जायेगा। अभी तक की उन्नत खेती का अन्त हो जायेगा, उसकी जडे खत्म हो जायेंगी।" यह राजीव गाँधी के भाषण का

सारांश है।

कर्ज माफी का सवाल आगे क्या रूप लेगा? यह हल होगा याँ नहीं, इस दुविधा को देवीलाल भी जानते हैं। अब तो यह कहावत चरितार्थ हो रही है कि 'पकड़ते हैं तो काटता है, छोड़ते हैं, तो भागता है।' यह घोड़ा अब तो चुनावों का यक्ष प्रश्न बनकर रहेगा।

कर्जबन्दी और किसान-आन्दोलन

कर्ज और कर्ज-माफी का सवाल किसान-आंदोलन के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न है। अधुनिक काल में किसान समाज का सब से अधिक असंतोष कर्ज देने वाली संस्थाओं के प्रति ही है। 'किसान कर्ज में जन्म लेता है और कर्ज में ही मर जाता है। किसी साहब का यह वाक्य असंख्य बार दुहराया गया होगा। आज किसान के हाथ में जितना पैसा आता गया है, उसका कर्ज भी बढ़ता गया है।

पुराने समय की खेती घर की जरूरतों पर आधारित थी। घर के बीज, घर के बैल और घर की मेहनत थी। उपज का एक हिस्सा राजा को देना पड़ता था लेकिन दुष्काल के समय यह अपने भंडार से किसानों को अन्न उपलब्ध कराता था। अंग्रेजों के आते ही परिस्थिति बदल गई। अब फसल के उत्पादन के अनुपात में लगान लेने के बजाय नगदी रुपयों में लगान लेने की प्रथा आई। अंग्रेजों को साम्राज्यवादी सैन्य संचालन के लिए काफी पैसों की जरूरत थी। पहले की तुलना में बड़ा फर्क यह आया कि अब अकाल के समय किसान को पेट भरने की चिन्ता बनी रहती है, जबकि पहले राजा के अन्न भंडार से उसे भोजन मिल जाता था, उसके साथ ही लगान अदा करने के लिए रुपये जुटाने की चिन्ता भी जुड़ गई। तब रुपये जुटाने के लिए साहूकार आगे आये।

अंग्रेज सरकार की नकद-वसूली पद्धति से अच्छे खाते-पीते लोग भी परेशान हो उठे। जिन किसानों के घरों में सौ-सवा-सौ लोग खाते थे, वे भी सौ रुपये नगद नहीं दे पाते थे। इसका फायदा साहूकार उठाने लगे। बैंकों से लिए गये कर्ज जैसे आज वापस नहीं हो पाते उस समय भी किसान वापस करने की हालत में नहीं थे अतः उनके खेत नीलाम होते चले गये। किसानों में बहुत से भूमिहीन बन गये। ऐसी हालत में सब से प्रसिद्ध किसान-विद्रोह महाराष्ट्र के पूणे जिले में हुआ। किसानों ने साहूकारों के घरों पर आक्रमण करके बहियाँ छीन ली और कर्जों के खाते जला दिये। साहूकारों के साथ किसानों का यह विवाद अंग्रेजों के समय से शुरू होकर द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक चलता रहा। इसमें सब से ज्यादा लाभ वकीलों

को हुआ। किसानों के मुकदमों से उन्होंने अपरम्पार धन पैदा किया। उनके कपड़े तक 'पेरिस से धुलकर' आने लगे।

अंग्रेज १८५७ की क्रांति के समय से ही डरे हुए थे। किसानों के विद्रोहों से उनकी चिन्ता और बढ़ गयी। तब अकाल के समय राहत देने वाली कानूनों और संस्थाओं का जन्म हुआ। १९३० में पंजाब में युनियनिष्ट पार्टी की सरकार के सर छोटू राम ने ऐसा कानून बनाने की पहल की कि खेती से किसान को बेदखल नहीं किया जा सकता क्योंकि यही उसकी जीविका का साधन है। उस समय इस चीज का सब से ज्यादा विरोध कांग्रेस ने किया। लाला लजपत राय का कौंसिल में दिया गया भाषण राजीव गांधी के भाषण का ही मानों पहला अवतरण था। उसका कुछ अंश इस प्रकार है, "साहूकारी खेती के लिए आवश्यक है। कर्ज के बिना खेती चलेगी नहीं और जमानत लिए बिना कोई कर्ज कैसे देगा? ज्यादातर कर्ज जमीन के ऊपर ही लिए जाते हैं, वही चीज साहूकार के साथ में होती है। इसके बिना साहूकारी चल नहीं सकती। इसके अभाव में किसानों का और सब से ज्यादा छोटे किसानों का नुकसान होगा।" आखिर स्वतंत्रता आने तक साहूकार टिका ही रहा। वही किसानों के कर्ज की मांग पूरी करता रहा। लेकिन राजनीति में साहूकार के विरुद्ध बोलना लोकप्रिय बात बनती गई। द्वितीय महायुद्ध के बाद साहूकारों का स्थान सहकारी समितियों और भूमि विकास बैंकों ने लिया परन्तु कर्ज का प्रश्न तो बना ही रहा।

आज के किसान आंदोलन में भी कर्ज माफी का सवाल बार-बार उठा है। कर्नाटक रैयत संघ ने प्रमुख माँग यही उठाई और इसको लेकर आंदोलन किया। ऐसा ही पंजाब और हरियाणा के किसान आंदोलन में हुआ। कर्ज वसूली अधिकारी गाँव में प्रवेश ही न कर सके, इसके लिए सब जगह गाँवबन्दी के साधन काम में लाये गये। गुजरात के भरूच जिले में कई वर्षों से कर्ज वसूली के विरोध में ऐसा ही किसान-आंदोलन चल रहा है। पंजाब की भारती किसान युनियन कर्ज माफी की बात नहीं करती, उसने 'लेखे-पते' शब्द दिया है। किसानों को कर्ज का हिसाब-किताब देखने को मिलें। सरकार की ओर से किये गये हिसाब के साथ किसानों की खेती में भी घाटे का हिसाब भी देखा जाय। तब पता चलेगा कि किसे कितना देना है।

किसान संगठनों की मांग कर्ज का हिसाब देखने की है, जबकि राजनीतिक दलों को कर्ज माफी का प्रश्न ही अच्छा लगता है क्योंकि इसी से उन्हें वोट पाने में सुविधा होगी। महाराष्ट्र शेतकरी संघटना ने कर्ज माफी

की कल्पना का विरोध किया है। वह माफी को अच्छा नहीं मानती और माफी माँगकर लाचारी में जीने को अच्छा नहीं मानती। किसान अपने लिये हुए सारे कर्ज सम्मान के साथ वापस करेगा और सम्मान से प्राप्त किये गये आनन्द के साथ जियेगा। लेकिन आज किसान कर्जा वापस करने की स्थिति में नहीं है, तो यह सरकारी नीति का दोष है। यदि किसान की खेती फायदे में चले तो खेती करने और कर्जा वापस करने में उसे आनन्द और उत्साह मिलेगा। यदि खेती उपज को लाभकारी मूल्य मिले तो कर्ज माफी की जरूरत ही क्या है?

भारतीय कानून की यह मान्यता है कि किसी करार में एक पक्ष यदि उसका पालन नहीं करता तो वह रद्द माना जाता है। उदाहरणके तौरपर 'अ' ने 'ब' से करार किया कि वह निर्धारित समय में वन से लकड़ी काटकर लायेगा। यदि न ला सका तो 'अ' का मकान 'ब' के कब्जे में चला जायेगा। लेकिन 'ब' 'अ' को जंगल जाने ही नहीं देता है, बाँध देता है या भगा देता है, तो यह करार टूट जाता है।

ऐसे ही सरकारी संस्थाएँ किसानों का कर्ज देती हैं और उसे वापस चाहती हैं लेकिन सरकार खेती को अलाभकारी बनाने का उपाय करती है। ऐसे में सरकार को कर्ज वापसी का न तो नैतिक अधिकार है, न ही कानूनी अधिकार। सरकारी कर्जों के कायदे शुरू से ही गलत रहे हैं। शेतकरी संघटना की भूमिका यही रही है कि इस गैर कानूनी कर्जों से मुक्ति की घोषणा की जाय और इसके पहले सांगठनिक मोर्चेबन्दी मजबूत की जाय।

आज राजनीतिक दल कर्जमेध रूपी अश्वमेध यज्ञ को हरियाणा से बाहर फैलाने में लगे हैं, जबकि किसान आंदोलन इस विषय का ही अंत कर देना चाहता है।

पूर्वप्रकाशन : छात्र किसान नीति
जून १९८८

२५.

इंडिया बनाम भारत और नया आंदोलन

हाल के दौर में, भारत में किसान आन्दोलन की बात करना गलत होगा। एक ओर महाद्वीपीय विस्तार और देश की विभिन्नताओं तथा दूसरी ओर संचार की परेशानियों और साधनों की कमी के कारण किसी एकीकृत, अखंडित और देशव्यापी किसान संघटन का उदय नहीं हो पाया है। अपनी परेशानियों को आवाज देने के लिए स्वयं:स्फूर्त किसान आन्दोलन ने देश के विभिन्न हिस्सों में नेतृत्व कर्ताओं व संगठनों को जन्म दिया है। पिछले कोई तीन वर्षों से एक अन्तर्राष्ट्रीय समन्वय कमेटी ने एक दर्जन से ज्यादा क्षेत्रीय संगठनों को विचारों के आदान-प्रदान और कार्यक्रमों की समरूपता के लिए मंच प्रदान किया है।

यह लेख मुख्य रूप से शेतकरी संघटना के, जो पश्चिमी राज्य महाराष्ट्र में किसानों का संगठन है, विचारों पर आधारित है। विभिन्न राज्यों के किसान संगठनों की तुलना में शेतकरी संघटना ज्यादा मजबूत, ज्यादा सक्रिय और निश्चित रूप से ज्यादा संहित (articulate) है; और इसकी कम से कम आर्थिक और राजनीतिक विचारधारा से अन्य राज्यों के संगठन कमोवेश इत्तफाक रखते हैं। ऐतिहासिक व दार्शनिक मुद्दों पर वे अभी गम्भीर बहस नहीं कर पाए हैं।

शुरूआती गडगडाहटें

किसान आन्दोलन और किसान विद्रोह उतने ही पुराने हैं जितना कि इतिहास। मध्यकालीन और सामंती जमाने में टकरावों और विजयों तथा आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना और उनकी संरचनाओं का मुख्य उद्देश्य अतिरिक्त कृषि उत्पादों को हड़पना था। इस लेख के लिए आधुनिक जमाने में किसान आन्दोलनों का इतिहास ईस्ट

इंडिया कम्पनी—यहाँ बर्तानवी राज कायम होने से पूर्व—के साथ शुरू होता है, जिसने जमींदारी प्रथा के तहत काश्तकारी या रैयतवाड़ी किस्म की व्यवस्थाएँ जबरन लागू कीं और इस तरह अधिकांश क्षेत्रों में जमीन की निजी हकदारी की धारणा फैलायी, जबकि वजूद में ऐसा कुछ भी नहीं था। जिन्हें इन व्यवस्थाओं से लाभ पहुँचा, वे सारे के सारे ऊँची जातियों के थे और इस कारण दूसरों में, जो मजदूर के रूप में बदल चुके थे, बेहद असंतोष फैला।

भारतीय बाजार पर बर्तानवी उद्योगों में बनी सस्ती वस्तुओं, खासकर कपड़े, के धावां बोलने के कारण गांवों के दस्तकारों की कमर टूट गई और ग्रामीण अर्थ—व्यवस्था के स्रोत सूख गए। इन हालात में भूमि—कर, जो नियमतः नकद देना होता था, जबरन वसूलने के कारण, जो किसान कुछ बेहतर हाल में थे, वे भी मुसीबत में पड़ गए। कर्ज बढ़ता गया और रहन की जमीनें सूदखोरों के हाथ लगने लगीं। इस सब के कारण किसानों में व्याप्त असंतोष दंगों और आन्दोलनों के रूप में फूट पड़ा लेकिन उनकी दिशा शायद ही “राज्य” के विरुद्ध थी, जो उनकी परेशानियों का मुख्य कारण था। जमींदार और सूदखोर, जिनकी भूमिका उन्हें स्पष्ट नजर आती थी और जो उनके निकटवर्ती भी थे, उनके आक्रोश के केन्द्र बने।

बंगाल में असंतुष्ट किसानों के विद्रोहों की रिपोर्टें १७८३ से मिलनी शुरू होती हैं। इसके साथ लगे बिहार और उड़ीसा राज्यों में कोल और भूमिज विद्रोह १८३१—३३ के दौरान हुए थे। संथाल विद्रोह (१८५५—५६), जिसमें हजारों आदिवासी मारे गए थे, १८५७ के विद्रोह का अग्रदूत था। १८५७ के विद्रोह में असंतुष्ट किसानों ने हिस्सा लिया था। विद्रोह के बाद

इस विद्रोह के, या जैसा कि कुछ इतिहासकार इसे भारतीय आजादी की पहली लड़ाई कहते हैं, कुचलने के बाद बर्तानवी राज ने औपनिवेशिक प्रशासन ईस्ट इंडिया कम्पनी से अपने हाथों में ले लिया। इसके साथ ही किसान—आन्दोलन नए सिरे उभरे और उनके आक्रोश के केन्द्र ग्रामीण समुदाय में निकटवर्ती उत्पीड़क बने। इस तरह १८५९—६२ के दौरान बंगाल के नील उत्पादक किसान अपने जमींदारों के खिलाफ उठ खड़े हुए और १८७२—७३ में पाबना और बोगरा में एक बार फिर आक्रोश का उभार आया। दक्कन के किसानों ने १८७५ में विद्रोह किया और कर्ज सम्बंधी कागजात जब्त करने की कोशिश की। इस विद्रोह ने जल्दी ही कुनबियों और मारवाड़ियों के बीच जातीय संघर्ष का रूप ले लिया।

भूमिहीन मोपला मजदूर नम्बूदिरी ब्राह्मण जमींदारों से (१८९६ और उसके बाद) केरल में टकराए।

उपरोक्त आन्दोलन अकादमिक हलकों में मशहूर रहे हैं। इनके अलावा अनेकों ऐसी घटनाएँ हुईं, जिनमें भूमिहीन और गरीब बना दिए गए किसान (आदिवासी भी) सूदखोरों, व्यापारियों और जमींदारों से पुरानी अदावत चुकाने के लिए गिरोहों में संगठित हुए, लेकिन बाद में अवैध तत्त्व बनकर रह गए। बर्तानवी जमाने की शुरूआत में ऐसे गिरोहों और उनके नेताओं की कहानियाँ और पराक्रम लोकगाथाओं के विषय बन गए थे, जैसे रोबिन हुड की गाथा। यह परम्परा आज तक जारी हैं। अभी १९८१ की बात है, पश्चिमी उत्तर प्रदेश के दस्यु सम्राटों में से एक, छबिराम, ने अपने बारे में कहा था, “जब तक किसान भूखों मरेंगे, कोई—न—कोई छबिराम मौजूद रहेगा।” ऐसे अवैध तत्त्व किसानों के आदिकालीन और अधकचरे आन्दोलन का प्रतिनिधित्व करते हैं। कुछ गिराहों के नेता शहरी और बाहरी तत्त्व थे। वे सभी के सभी चमत्कारी और अधिकांश मसीही थे, जिनकी खुमारी—आम तौर पर राजनीतिक या धार्मिक—लोगों पर छायी रहती थी।

महात्मा का आगमन

महात्मा गांधी के आगमन के साथ किसान आन्दोलनों का रुख एक बार फिर “राज्य” की ओर केन्द्रित हुआ। चम्पारण, खेड़ा और बारदोली के किसान आन्दोलनों में, जिनका नेतृत्व खुद महात्मा गांधी या सरदार वल्लभ भाई पटेल ने किया था, एक गुणात्मक फर्क था। अब किसान आन्दोलन राष्ट्रीय स्तर पर जारी राजनीतिक और आर्थिक आन्दोलन का हिस्सा बन चुके थे। अब वे ग्रामीण समुदाय को बाँटते नहीं थे, क्योंकि परेशानियों के जो मुख्य कारण बनाए जा रहे थे, वे विदेशी सरकार से जुड़े हुए थे, न कि ग्रामीण समाज के इस या उस हिस्से, जाति या तबके से। साथ ही अहिंसा और असहयोग के नये तरीकों के पक्ष में पुराने देहाती तरीके त्याग दिये गए। इस तरह किसानों का शोषण आजादी की लड़ाई का मुख्य विषय बना और चरखा उसका सब से प्रभावी प्रतीक। आजादी और उसके बाद

राजनीतिक आजादी १९४७ में हासिल हुई और एक अशोभनीय जल्दबाजी में कृषि, किसानों और ग्रामीण अर्थ—व्यवस्था के प्रति गांधीवादी चिंता को त्याग दिया गया। योजनाबद्ध अर्थ—व्यवस्था के नाम पर “राज्य” ने मुख्य रूप से यूरोप से आयातित तकनीक का इस्तेमाल कर, अहलकारों

और बिचौलियों के शहरी वर्ग के लिए वस्तुएं तैयार कर, तीव्र औद्योगिकरण का रास्ता अख्तियार किया। इस औद्योगिकरण की पूंजी का मुख्य स्रोत सस्ते कच्चे मालों और कृत्रिम रूप से अनाजों की कीमते घटाने की नीति के जरिए अतिरिक्त कृषि उत्पादों का हड़पना था। बहरहाल राजनीतिक इजाफे के लिए समाजवाद और गांधीवाद के नारों को जोर-शोर से दुहराना जारी रखा गया।

शुरूआती दिनों में कृषि की अवहेलना मूर्खतापूर्ण ढंग से हुई। यह खुले तौर पर माना जाता था कि अगर पी. एल. ४८० अनाज उपलब्ध होते रहें, तो इस क्षेत्र के बारे में चिंता की बात नहीं। एक तरफ गांव-देहात के पैसे व्यापार के जरिए निचोड़े जा रहे थे और दूसरी तरफ पंचवर्षीय योजनाओं के साथ आर्थिक सहायता की शुरूआत हुई, जिसके सारे फायदे वे मुट्ठी भर लोग उठा रहे थे, जिनकी थोड़ी-बहुत राजनीतिक शाख थी। इस तरह आजादी से ग्रामीण जीवन में कोई गुणात्मक फर्क नहीं आया, अगर कुछ आया, तो बदतरी के लिए।

गरीबी रेखा के नीचे बसर कर रहे ग्रामीणों की तादाद १९५७-५८ में १८.२ करोड़ थी, जो १९७३-७४ में बढ़कर २२.१ करोड़ तक पहुँच गई, और खेतिहर मजदूरों की औसतन प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष आय, जो नियतांक मूल्यों के आधार पर १९६०-६१ में ५५२ रुपये थी, वह घटकर १९७५-७६ में २८५ रुपये पर जा पहुँची। ग्रामीण क्षेत्रों में औसतन ४९,००० की आबादी पर एक औषधालय है, ३००,००० की आबादी पर एक अस्पताल है और ८,३८७ की आबादी के लिए अस्पताल बेड है, जबकि शहरी क्षेत्रों में ३०,००० की आबादी पर एक औषधालय, ३५,००० पर एक अस्पताल और ३५० के लिए एक अस्पताल बेड है। कुल ५,७९,९३६ गांवों में से ३,१४,४७० सड़कों से नहीं जुड़े हैं और ४,०७,२७९ गांवों में सिर्फ अच्छे मौसम में ही सड़कों के जरिए पहुंचा जा सकता है; अशिक्षितों की तादाद लगातार बढ़ती जा रही है।

राजनीतिक आजादी गांवों के लिए इस तरह एक गंभीर छलावे के रूप में आई और किसान आन्दोलनों ने लाजमी तौर पर एक बार फिर सिर उठाया। इन आन्दोलनों पर गांधीवादी तरीकों से जो रोशनी तेज की गई थी, वह लुप्त हो गई। चूंकि साम्राज्यवादी सरकार जा चुकी थी, इसलिए अब ग्रामीण समुदाय के लिए उसका सामूहिक शोषण करने वाले किसी बाहरी दुश्मन को पहचानना मुश्किल हो गया। नतीजतन किसान आन्दोलन, गांधी के पहले की, अपनी शक्तों में वापिस लौट गया और

जमींदारों और सूदखोरों के खिलाफ तेलंगना और नक्सलबारी के इलाकों में जाहिर हुआ। और भी पीछे लौटकर उसने रूमानी दुस्साहसी रूप अख्तियार किया और जोत के स्वामित्व और गांवों में सूदखोरों की ज्यादातियों के मुद्दों पर केन्द्रित हो गया।

काश्तकरी विधान और वैसे ही अन्य दो विधान, जिनके अनुसार अंततः प्रति परिवार की जोत १८ एकड़ सिंचित जमीन या उसके बराबर होनी थी, और महत्वपूर्ण गांधीवादी विनोबा भावे के नेतृत्व में भूदान आन्दोलन, जिसके अनुसार बड़े भू-स्वामियों से जमीन इकट्ठी करनी थी और जो महज कुछ सीमित हद तक ही सफल हुआ—इस सब ने जमीन के बंटवारे के मामले को निश्चित रूप से रफा-दफा किया। कर्ज देने वाली सहकारी संस्थाओं के तेजी से पनपने और व्यक्तिगत रूप से कर्ज देने पर रोक लगने से गांवों के सूदखोरों की ताकत बेहद कम हो गई।

इस तरह, चूंकि दो आधार स्तम्भ समाप्त हो गए, इसलिए परम्परागत मार्क्सवादी किसान आन्दोलन वाकई एक अंधी गली में खो गया, और इसके कैडर, जो तादात में बहुत ज्यादा नहीं थे, कुछ ग्रामीण इलाकों में सिमट कर रह गए और खेतिहर मजदूरों के लिए ज्यादा मजदूरी के लिए और कल्पनाओं के शिकार होकर जोशखरोश में बेमायनी किस्म के 'जमीन हड़पो' आन्दोलन चलाते रहे।

वाम मोर्चा यदि इस तरह कमजोर रह गया, तो दक्षिणपंथी नेतृत्व तो वाकई व्यवस्था के हाथों में चला गया। स्वर्गीय प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री और उनके सुयोग्य कृषि मंत्री सी. सुब्रह्मण्यम ने उच्च तकनीक, जिसमें ज्यादा उपज देने वाले बीजों, खाद और कीटनाशक दवाओं का प्रयोग शामिल था, के सहयोजित (concerted) इस्तेमाल से सिंचित और ज्यादा उर्वर क्षेत्रों, मसलन पंजाब, हरियाणा आदि में हरित क्रांति की शुरूआत की। तकनीक के इस पिटारे के साथ बहुत तरह की आर्थिक इमदाद भी दी गई। इससे अनाज की कमी की समस्या हल हुई, लेकिन इसका फायदा ग्रामीण आबादी के एक बेहद छोटे हिस्से को मिला। अनाजों के मामले में स्वावलम्बी हो जाने के बावजूद गांवों की अधिकांश आबादी का शोषण-स्तर क्रय शक्ति की कमी के कारण पहले की तरह ही रहा। पंचायती राज के तहत प्रशासन के तथाकथित विकेन्द्रीकरण से राजनीतिक ओहदों की बाढ़—सी आई, जिसके ओहदेदार अनेकों योजनाओं के लिए आबंटित पैसों का हजम कर सकते थे। उसी तरह सहकारिता आन्दोलन के पूरे तंत्र में—जिसमें बहुदेशीय ग्रामीण संस्थाएं, कर्ज देने वाली

संस्थाएं, बाजार समितियां, दुग्ध संस्थाएं और चीनी की मिलें शामिल थीं—दुलमुल वैचारिक रवैये वाले लोगों के लिए आकर्षक संभावनाएं थी। योजनाओं के लिए मिलने वाली सहायता राशि और इन ओहदों के आकर्षण ने अधिकांश उच्च जातियों और बेहतर स्थिति वाले किसानों को कृषक समुदाय के हितों से अलग-थलग कर दिया। वे, दरअसल, अपने कृषक भाईयों के शोषण में हिस्सेदारी निभाने वाले हथकंडे बन गए।

व्यवस्था ने अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन जातियों जैसे समाज के कमजोर हिस्सों के प्रति दानशीलता बरत कर किसान आन्दोलन में एक और घुसपैठ की। बैंकों द्वारा खास तौर पर उत्सव जैसी सभाओं में दिए जाने वाले कर्ज, जिनके लौटाए जाने की बात गम्भीरता से नहीं ली जाती, महज १०० वर्ग फुट के कच्चे मकान, बंजर और बेफायदे वाली जमीन की टाइटिलें, इस दानशीलता के कुछ उदाहरण हैं। जिनके लिए ये इमदाद तय हुई, उन्हें इनका फायदा पहुंचे या न पहुंचे, दलाल और नौकरशाही इनके जरिये अच्छी-खासी रकम जरूर बनाते हैं, और अदला-बदली के जरिए अपने अनुयायियों से अच्छे राजनीतिक व्यवहार के लिए आश्वस्त रहते हैं।

किसान आन्दोलन को इस तरह चारों खाने चित्त कर दिया गया, और अगर उसकी कोई पूंछ हिल रही थी, तो उसे फर्जी मुठभेड़ के जरिए, कार्यकर्ताओं को बेरहमी से सफाया कर, कुचल दिया गया। किसानों को गोलबंद करने की किसी भी कोशिश पर आंखे तरेरी जाती थीं। प्रोफेसर रंगा द्वारा, जो एक जमाने में पूरे देश में किसान सभाओं के प्रवर सदस्य (doyen) थे, अपनी सारी गतिविधियां बंद कर देने पर, सत्तारूढ़ पार्टी में जगह दी गई। शंकरराव मोहिते नामक एक व्यक्ति ने, जो चीनी सहकारी समितियों के ताल्लुकेदार और सातवें दशक एक शक्तिशाली आदमी थे, एक बार लाख से ज्यादा वर्दीधारी किसानों की रैली आयोजित की। जवाहर लाल नेहरू ने, जो रैली के मुख्य अतिथि थे, अक्खड़पन से मोहिते संगठन को खत्म करने के लिए कहा।

नया आन्दोलन : विश्व दृष्टि

थोड़े में, यही हालात थे जब नया आन्दोलन अचानक सतह पर आया। इसकी सब से बड़ी खासियत यह थी कि इसे ग्रामीणों के हर हिस्से से भारी समर्थन प्राप्त हुआ। ऐसे नेताओं के आव्हान पर, जिनके बारे में उन्होंने पहले कभी सुना तक नहीं था; लोग खुद-ब-खुद लाखों की संख्या में जुटने लगे, वह चाहे प्रचार के लिए मामूली रैली हो या गिरफ्तारी देने

के लिए नागरिक असहयोग कार्यक्रम। इस आन्दोलन के बारे में एक और महत्वपूर्ण बात यह थी कि इसके वाक्-व्यवहार (articulation) की क्षमताओं और मुहावरों में नयापन था। किसानों का आन्दोलन, जो राष्ट्रीय गतिविधियों की रूपरेखा में गौण था, अचानक बिल्कुल केन्द्र स्थल में आ गया। लगा, किसानों के आन्दोलन ने देश में अचानक वयस्कता प्राप्त कर ली है।

इसकी समानता मार्क्स के पहले और बाद के मजदूर आन्दोलन में देखा जा सकती है। राबर्ट ओवेन या सेंट साइमन के तरीकों के ट्रेड युनियनवाद को एक ऐसे शक्तिशाली आन्दोलन ने उखाड़ फेंका, जिसने सार्वभौम दृष्टि का दावा किया (कुछ लोगों के लिए यह दृष्टि वैज्ञानिक थी, कुछ के लिए छद्म वैज्ञानिक, और कुछ के लिए स्पष्ट रूप से अवैज्ञानिक)। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद पर आधारित मजदूरों के नये आंदोलन ने ऐतिहासिक प्रक्रिया का मूल्यांकन उत्पादन के साधनों के विकास और सामाजिक तथा राजनैतिक संस्थाओं तथा सम्बंधों पर पड़ने वाले इसके प्रभावों की विशिष्ट शब्दावलि में किया। और भी ज्यादा स्पष्ट रूप से कहें, तो मार्क्सवादियों ने पूंजी के विकास का कारण औद्योगिक श्रम के अतिरिक्त मूल्य का शोषण बताया। इस तरह औद्योगिक मजदूरों का शोषण मजदूर आंदोलन की, जिसने समाजवादी सिद्धांत और समाजवादी आन्दोलन को अपनी चपेट में ले लिया, आधार शिला और कसौटी बना।

भारतीय ज्योतिषियों की तरह मार्क्सवादी पंडित यह दिखाने-बताने में तो विजयी साबित हुए कि अतीत में जो कुछ भी हुआ वह क्यों और कैसे हुआ, और कैसे उनके द्वारा पहले से बताये हुए ढंग से ही अनिवार्यतः होना था लेकिन भविष्य को पढ़ने में वे उतने ही दयनीय रूप से असफल रहे। औद्योगिक रूप से विकसित पश्चिमी गोलार्ध के देशों में कोई महत्वपूर्ण मजदूर आन्दोलन नहीं हुआ। इन देशों को गहरे आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ा—मंदी, महंगाई, बेरोजगारी, व्यापार असंतुलन, मौद्रिक संकट—मगर इनमें कोई भी ऐसा नहीं था, जिससे वे उबर नहीं पाए। जो आन्दोलन हुए, उनकी खासियतों को देखते हुए, उन्हें मजदूर आन्दोलन कहना मुश्किल है। जिन्हें मार्क्सवादी आन्दोलन कहा गया, वे औद्योगिक रूप से ज्यादा विकसित देशों के बजाए विकासशील देशों में हुए। स्वधोषित समाजवादी सरकारों को इतने मुद्दों पर समझौता करने के लिए मजबूर होना पड़ा है कि अब विकसित पूंजीवादी देशों और समाजवादी देशों में फर्क करना असंभव हो गया है।

मार्क्सवादी व्यवस्था से मोह टूटने के कारण कुछ पुराने वामपंथी इतनी कड़वाहट से भर गए हैं कि उन्होंने अपनी भावनाओं के साथ-साथ सिद्धांत का ही पूरी तरह द्वंद्वात्मक सिद्धांत, भौतिकवाद और सब कुछ त्याग कर, नाना किस्मों के अध्यात्मवाद और मानवतावाद को स्वीकार कर लिया। इस बारे में कोई गंभीर प्रयास नहीं किया गया कि आखिर मार्क्सवाद के कौन से पहलू अभी भी महत्त्व रखते हैं और किन में संशोधन करने या किन को त्यागने की जरूरत है।

हमारे देश में किसान आन्दोलन के साथ, मार्क्स के बाद के मजदूर आन्दोलन की तरह ही नये युग की शुरूआत होती है। यह इतिहास में पहले के किसी भी किसान आन्दोलन से अलग है, और लगता है, भौतिकवाद और द्वंद्वात्मकता के सिद्धांत के आधार पर इससे वैचारिक तौर पर ज्यादा विकसित आर्थिक विश्व दृष्टि मिलती है।

अतीत की ललक से परे

सब से पहले तो यह पशुचारी (pastoral) कृषक पैटर्न का गुणगान नहीं करता, न ही औद्योगीकरण के पहले के ग्रामीण जीवन के आदर्श व रूमानी नजरिए से इसका कोई ललक भरा जुड़ाव है। 'मेरी माटी कितनी हरी-भरी थी' जैसे रवैये का, न ही तॉल्सताय-रस्किन-गांधी के तरीके के ग्रामीण जीवन पद्धति और अध्यात्मवाद के बीच मानसिक जुड़ाव का यह प्रतिनिधित्व करता है। यह किसानों के जीवन से आम तौर पर जोड़े जाने वाले कुछ उत्कर्षों, जैसे सहजता और सादा जीवन, के प्रति भी खास आदरपूर्ण नजरिया नहीं रखता। व्यक्ति और उसी तरह समाज के भी जीवन के गुणात्मक रूप का मूल्यांकन इस बात से होगा कि उसे कितनी आजादी हासिल है।

आजादी की तीन डिग्रियां हैं : इच्छानुसार चयन के लिए कितने मौके उपलब्ध हैं; इसके लिए कितने विकल्प उपलब्ध हैं; और इच्छानुसार किसी चीज के चयन का स्पेक्ट्रम (spectrum) क्या है? जितने ही ज्यादा और विभिन्न प्रकार के साधन उपलब्ध होते हैं, उतनी ही ज्यादा आजादी हासिल होती है, इसलिए भौतिक ऐश्वर्य अपने आप में वांछित है, न कि इसलिए कि इससे कितना आनन्द और सुख मिलता है। जीवन के उच्चतर स्तर इसलिए जरूरी नहीं हैं कि उनसे आजादी की डिग्री बढ़ती है। उत्पादन में बढ़ोत्तरी, ज्यादा उत्पादन और पूंजी का संचय सारी सामाजिक और आर्थिक गतिविधियों के केन्द्र हैं। विरोध अपने आप में औद्योगिकरण से नहीं, बल्कि पूंजी के संचयन की प्रक्रिया से है।

अविघटनकारी

दूसरे, जबकि पिछले किसान आंदोलनों ने कृषक समुदाय को आर्थिक, राष्ट्रीयता, जाति, धर्म और राजनीतिक धाराओं के आधार पर बांटने की कोशिश की है, नये आन्दोलन ने सारी ग्रामीण आबादी को पहले और आज भी, चाहे आर्थिक, राष्ट्रीयतावादी, जातीय, धार्मिक और राजनीतिक नजरिये से उनमें कितने भी मतभेद हों, एक साथ जोड़ा है। दस्तकार, भूमिहीन मजदूर, छोटे किसान, मझोले किसान और यहां तक कि बड़े जमीन-मालिकान तथा शहरों की झुग्गी-झोपड़ियों में और फुटपाथों पर बसर करने वाले तथा प्रवासी शरणार्थी, सब के एक समान हित हैं। ऊपरी तौर पर चाहे जैसा लगे, गांवों में दुःख-दर्द की वजह पड़ोस में रहने वाले बेहतर हैसियत वाले किसान नहीं बल्कि बाहरी शोषक है, जो दोनों का शोषण कर रहा है।

देश की बोलचाल की भाषा में टकराव इंडिया और भारत-देश के मौलिक और परम्परागत नाम के बीच हैं। इंडिया वह अभिप्रायात्मक सत्त्व है, जिसने बर्तानवियों से आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक शोषण का जामा विरासत में हासिल किया है; जबकि भारत वह अभिप्रायात्मक सत्त्व है, जो बाहरी औपनिवेशिक सत्ता के खत्म होने के बावजूद अब दूसरी बार शोषण का शिकार हुआ है। थोड़े में, १९४७ की आजादी से सिर्फ यही फर्क आया है कि काले बर्तानवियों ने सफेद बर्तानवियों की जगह ले ली है, जिससे मैनचेस्टर के बजाय बम्बई को फायदा पहुंचता है।

सन् १७७० से भारत में किसानों का आन्दोलन दो स्थितियों के बीच झूलता हुआ नजर आता है।

एक, जिसमें खेतीबारी पर निर्भर लोगों के बीच आपस में टकराव है, मसलन १७७० से कम्पनी का शुरूआती युग: १८५७-१९२०, १९५०-१९६२।

दूसरी, जिसमें खेतीबारी पर निर्भर लोग बाहरी शोषकों के खिलाफ संयुक्त मोर्चा बनाते हैं, मसलन १८५७ तक कम्पनी का आखिरी युग, १९२०-५०।

अब सैद्धांतिक आधार हासिल होने से, ऐसा लगता है, किसान आन्दोलन ने अंततः कृषि से जुड़े सभी लोगों को उनका शोषण करने वाले बाहरी दुश्मन के खिलाफ एकजुट कर लिया है।

एक सूत्री कार्यक्रम

नये किसान आन्दोलन की तीसरी विशेषता है कि उसने लगभग

पूरे तौर पर अपने को कृषि उत्पादों के मूल्यों के मुद्दे को न सिर्फ किसानों की बेहतरी बल्कि पूरे देश के आर्थिक विकास के लिए एक सूत्री कार्यक्रम के रूप में घोषित किया गया है। पिछले जमानों में किसान संगठनों ने हमेशा बहुतेरी मांगों की जटिलताओं को पेश किया था, मसलन सिंचाई की सुविधाओं, कर्ज से राहत, विभिन्न तरह के और खास तौर पर खाद, कीट नाशक दवाओं, बीज आदि के लिए आर्थिक सहायताओं, शैक्षिक और स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाओं, आदि-आदि के लिए। इस मामले में कुछ संगठन शैक्षिक संस्थाओं में दाखिलों और सरकारी नौकरियों में किसानों के लिए आरक्षण की मांग करने की हद तक भी गए।

मार्क्सवादी दर्शन के सिद्धांतों से काफी अलग हटकर किसान आन्दोलन का मानना है कि पूंजी संचयन दरअसल महानगरीय औद्योगिक मजदूरों के शोषण से उतना नहीं हुआ, जितना तीसरी दुनिया के उपनिवेशों के शोषण से। व्यावसायिक या औद्योगिक क्रांति की शुरुआत के पहले भी कृषि अपनी प्रकृति तंत्रवाही (physiocratic) किस्म के गुणन (multiplication) की क्षमताओं के कारण शोषण का क्षेत्र था। विभिन्न देशों के इतिहासों में कृषक से उसके अतिरिक्त उत्पाद से जुदा करने के लिए किस्म-किस्म के रवैये और तरीके अख्तियार किये गये हैं, जिनमें सीधे-सीधे डाकानजी भी शामिल है। डाकुओं के गिराहों ने तादाद में बढ़कर सेना जैसी संरचनाओं और राजनीतिक संगठनों का रूप ले लिया, जो अपने कार्य और प्रभाव क्षेत्र तय करने के लिए आपस में लड़े। जबरन भूमि-कर वसूलना, दासता व बंधुआ मजदूरी इस जमाने की देन है। यहां तक कि धार्मिक संस्थाओं का विकास भी कुछ इस तरह हुआ कि वे किसानों के शोषण में सहायक हो सकें। शोषण की भौंडी सामंती तकनीकों को छुपाने के लिए व्यावसायिक-औद्योगिक जमाने ने व्यावसायिकता का मुलम्मा चढ़ाया। लेकिन नतीजे अगर ज्यादा नहीं, तो उतने ही क्रूर रहे। “सस्ती मौलिक वस्तुएं और महंगी उत्पादित वस्तुएं” साम्राज्यवाद का सार था। पिछले जमाने की सारी तलवारों और सारी बंदूकों की तुलना में व्यापार की शर्तें ज्यादा घातक साबित हुईं। आंतरिक उपनिवेशवाद ने अन्तर महाद्वीपीय साम्राज्यवाद की जगह ले ली। पहले के उपनिवेशों ने अपना उप-विभाजन दो सत्त्वों में कर, दोहरी व्यवस्थाएँ विकसित कीं : एक, वापिस लौट गए साम्राज्यवादी सत्ता का उत्तराधिकारी शोषक और दूसरा, दूसरी बार शोषण का शिकार होने वाला शोषित, इस बार अपने ही देशवासियों द्वारा।

नये शोषकों द्वारा कृषि उत्पादों के मूल्य कम रखने के अनेक और तरह-तरह के तरीके हैं। खाद्यान्नों की कमी के समय खुले बाजार में उनके सामान्य मूल्यों की तुलना में प्रोक्योरमेंट लेवी को काफी कम रखने के साथ-साथ अपर्याप्त समर्थन मूल्य अभियान (जो अमूमन अस्तित्व में नहीं होते), घरेलू बाजारों को उसके मूल्यों से काफी ऊंचे मूल्यों की आयातित वस्तुओं से भर देना, उनमें तोहफों या सहायता के रूप में मिली वस्तुओं की बाढ़ लाना, मसलन पी. एल. ४८० खाद्यान्न, दूध के पाउडर और योरोपीय आर्थिक समिति से आया बटर-ऑयल, अपनी अक्षमताओं के लिए चर्चित भ्रष्ट सरकार या उसके अवयवी संस्थानों द्वारा खाद्यान्नों के अन्तर्राज्यीय या अन्तरजिला परिवहन पर प्रतिबंध, या अतिरिक्त कृषि वस्तुओं के निर्यात पर प्रतिबंध या कड़ा नियंत्रण, राष्ट्रीय मुद्रा की कृत्रिम रूप से बढ़ाई हुई विनिमय दर—कृषि क्षेत्र के खिलाफ इस्तेमाल किये जाने वाले ये महज कुछ हथियार हैं। राजनीतिक दबावों के जरिए सरकार को अगर समर्थन मूल्य के आश्वासन के लिए मजबूर भी किया जाता है, तब भी बड़ी चापलूसी और दुर्भावनापूर्ण आंकड़ों के दांव-पेंच से उन्हें बेहद कम तय किया जाता है। मसलन सन् १९७७ में छिड़काव वाली कीटनाशक दवाओं पर एक हेक्टेयर गेहूं के लिए एक पैसे (अमेरिकी सेंट का दसवां हिस्सा) का खर्च आंका गया था, और आज भी वह ५८ पैसे है, एक हेक्टेयर गेहूं के लिए सिंचाई पर जो खर्च जोड़ा गया था, उससे बिजली का आधा खर्च भी पूरा नहीं हो पाता। इस तरह जोड़कर तय किए गये समर्थन मूल्य व्यापारियों और दूसरे बिचौलियों के लिए ज्यादा लाभदायक साबित हुए, इसे जो अदायगी की सब से बड़ी कीमत मानते हैं।

यह मानते हुए कि कृषक समुदाय को अनेकानेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है, लाभकारी मूल्यों को कृषि की बेहतरी के लिए अपरिहार्य मुद्दा माना जाता है। दूसरे सारे मुद्दे, जिनमें आर्थिक सहायता और सुविधाएं भी शामिल हैं, बेनामी हो जाते हैं अगर कृषि उत्पादों का मूल्य ही उनके उत्पादन मूल्य से कम मिलता है। इन वजहों से, जहां एक ओर कुछ स्थानीय समस्याओं, जैसे सड़क, बिजली, पानी आदि के मामलों पर सांगठनिक प्रयासों के सुगमीकरण के ख्याल से ध्यान दिया जाता है, वहीं लाभकारी मूल्यों को आन्दोलन के एक-सूत्री उद्देश्य के रूप में लिया जाता है।

विकास की रूपरेखा

आन्दोलन की दूसरी विशेषता यह है कि यह अपने आप को महज

कृषक वर्गों का प्रतिनिधि नहीं मानता। हालांकि इसकी एक-सूत्री मांग कृषक मूल्यों से जुड़ी है और यह सच है कि इसके समर्थक मुख्य रूप से ग्रामीण इलाकों में हैं, शेतकरी संघटना बड़ी शिद्धत से यह मानता है कि इसकी एक सूत्री योजना दरअसल गरीबी दूर करने और पूरे देश के विकास की योजना है। इसके समर्थन में शेतकरी संघटना ने चार आधार बताए—

पहला, आम धारणाओं और खास तौर पर असंतुलित विकास के हिमायतियों के अनुमानों के विपरीत किसान मूल्य-आंदोलनों को तर्क संगत समर्थन देते हैं। अगर किसानों को आवश्यक प्रोत्साहन दिए जाएं या हतोत्साह की स्थितियां या रुकावटें न रहें, तो वे निवेश करते हैं, उन्नत तरीकों को अपनाते हैं और यहां तक कि तकनीकी बदलाव भी लाते हैं।

दूसरे, मूल्य सम्बन्धी प्रोत्साहनों की ओर किसानों की सकारात्मक प्रतिक्रिया से श्रम आदि की मांग बढ़ती है, जिससे कृषक उत्पादों के मूल्यों की बढ़ोत्तरी की दर से खेतिहर मजदूरों की मजदूरी में बढ़ोत्तरी की दर ज्यादा होती है। नतीजन, लाभकारी मूल्यों की तुलना में मजदूरों को ज्यादा लाभ पहुंचता है।

तीसरे, इंडिया-भारत जैसी दोहरी व्यवस्था में किसानों को मिलने वाले मूल्यों और उपभोक्ताओं द्वारा अदा किये जाने वाले मूल्यों के बीच सीधा सम्बन्ध नहीं होता। किसानों को मिलने वाले मूल्य विपदग्रस्त सत्त्व (victim-entity) में आय का स्वतन्त्र फल है, जबकि उपभोक्ताओं द्वारा अदा किये जाने वाले मूल्य आधुनिक परजीवी क्षेत्र में आय का फल है। बिचौलियों का सीमांत लाभ (profit-margin) महज इसका परिणामी फल है; इसलिए व्यापारी बिचौलिये, किसानों के शोषण के कारण नहीं, बल्कि उससे लाभ उठाते हैं।

चौथे, अपने शहरी प्रतिभागियों की तरह किसान भी बेहतर मूल्यों के जरिए होने वाली ज्यादा आय की उपयोगिता के मामले में समझ बूझ का व्यवहार दर्शाते हैं। वे गैर-कृषक गतिविधियों में हिस्सा लेते हैं, जिससे निजी रोजगार तथा परिवार के सदस्यों के लिए, और यहां तक कि बाहरियों के लिए भी रोजगार की संभावनाएं बनती हैं। कृषि उत्पादों के स्थितियों में अल्पकालिक राहत की स्थिति पैदा होने के तत्काल बाद औद्योगिक गतिविधियों में महत्त्वपूर्ण रूप से कुछ तेजी आई है।

उपर्युक्त आधारों की तार्किक परिणति के रूप में आर्थिक विकास उतना ही स्वाभाविक है, जितना कि जैविक विकास। अगर आर्थिक विकास का पहिया अटका हुआ पाया जाता है, तो इसका मतलब है कि पूंजी

संचयन की स्वाभाविक प्रक्रिया में जान-बूझकर दुर्भावनापूर्ण हस्तक्षेप किया जा रहा है। निम्न विकास के स्वार्थजनित चक्र की मुख्य वजह अतिरिक्त कृषि उत्पादों का औपनिवेशिक या नव-औपनिवेशिक शोषण है। तीसरी दुनिया के देशों की सरकारें अगर अपने देशों में गरीबी बढ़ाने और उसे बरकरार रखने के प्रयास छोड़ दें तो गरीबी खुद-ब-खुद दूर हो जाएगी। महज ठीक ठाक क्षमता वाली योजनाएं बनाने और उन्हें अंजाम देने की संरचनात्मक और सांस्थानिक दिक्कतों के हालात में भी स्वाभाविक प्रक्रिया को रुकावटों को कम करके इन देशों में उद्देश्यों को हासिल करने की बेहतर संभावना है।

पूर्वप्रकाशन: असली भारत
अप्रैल १९८८



भारत देश की
व्यवस्था अपनी अखिरी टांग पर खड़ी है।
इसकी सभावना है कि
नयी व्यवस्था सभी तरह के विरोध को
कुचलने वाली हो।
एक मात्र विकल्प
नये अर्थशास्त्र से युक्त किसान आंदोलन है,
जो तेज आर्थिक औद्योगिक विकास का मार्गदर्शन करेगा।
एक ऐसे विकास का,
जिसका आधार
मानवता की इतिहास में
अब तक अपनायी गयी पूँजी सचय की
अमानुशिक प्रक्रिया नहीं होगा।

— शरद जोशी

समस्याएँ भारत की

मूल्य — रु. २०=००

मूल्य-रुपये पन्द्रह केवल

शेतकरी प्रकाशन, अलिबाग (४०२ २०१)